हिन्दूधर्म प्रवेशिका

मूल्य १)

पुस्तकालय

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

संख्या .... आगत संख्या 37635

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि
30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी
ए अन्यथा 50 पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड
ा।

स्टाक ... तिर ११८४-११८५

प्रकाशक

अखिल भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ,
पो० बिरला लाइन्स, सब्जी मंडी, दिल्ली।

अष्टम संस्करण, ४०००
मार्गशीर्ष सं० २०१० वि०
मूल्य १) १५/१७

मुद्रक—ला० मदनलाल असरी,
श्री लक्ष्मी प्रिंटिंग प्रेस,
रोशनआरा रोड, दिल्ली।

अवतरणिका

खेद का विषय है कि आजकल बहुत से आर्य-धर्मियों को अपने धर्म की बातों का साधरण ज्ञान भी नहीं है। इसका कारण धार्मिक शिक्षा और उपदेश का अभाव है। इसे दूर करने के अभिप्राय से यह पुस्तक हमने हिन्दू समाज के विशिष्ट सज्जनों के आग्रह से प्रकाशित की है। इसका मुख्य आधार तो काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व मुख्याधिष्ठाता स्वर्गीय पं० आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव की हिन्दू-धर्म की बालपोथी ही है, पर अन्यत्र से भी बहुत सी बातें लेकर इस में जोड़ी गयी हैं। आशा है इससे एक बड़ी त्रुटि की पूर्ति होगी, क्योंकि धार्मिक ज्ञान के अभाव के कारण ही हिन्दू जाति की शक्ति छिन्न-भिन्न होती चली जा रही है और यह इसी उद्देश्य से छापी गई है कि जिसमें यह पुस्तक सर्वसाधारण के पास तक पहुंच सके। इसी लिये इसको सरल, सुबोध बनाने का प्रयत्न किया गया है। आशा है कि सर्वसाधारण में इस पुस्तक का प्रचार होगा एवं सर्वसाधारण हिन्दू इसके द्वारा अपने धर्म के मूल तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे तथा हिन्दू-संगठन में, जिसके समानाधार संक्षेप से नीचे दिये जाते हैं, इससे सहायता मिलेगी।

समान जाति

सभी मनुष्य जो आर्य हिन्दू जाति के हैं वे इस जाति के नाम से संगठित हो सकते हैं। हिन्दू-जाति के संगठन के लिये यह एक आधार है। सभी हिन्दू चाहे बौद्ध हों, सिक्ख हों, जैन हों, आर्यसमाजी हों, सनातनी हों सब एक जाति के मनुष्य हैं। सबका जन्मस्थान हिन्दुस्थान (भारतवर्ष) है। सभी के पूर्वज एक हैं। इनमें से कोई बाहर से नहीं आया है और किसी की वंश-परम्परा विदेशी नहीं है। "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा" से लेकर हरिश्चन्द्र और राम, श्रीकृष्ण और गौतमबुद्ध, तथा महावीर स्वामी, श्रीऋषभाचार्य और श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य और श्रीनानकदेव, महाराज चन्द्रगुप्त व अशोक, विक्रमादित्य और शालिवाहन, शिवाजी और गुरुगोविन्द आदि सभी हिन्दू थे और सब हिन्दू उनको अपना पूर्वज मानते हैं। इस प्रकार सब की एक जाति है और इसकी रक्षा के लिये सब एक हो सकते है। संगठन का दूसरा आधार है:—

समान धर्म

समस्त हिन्दू-जाति का जो मूल समान धर्म है वही हिन्दू-धर्म है। हिन्दुओं में इस समय कई सम्प्रदाय हैं परन्तु सब के मूल सिद्धान्त समान हैं। जिन्हें हम आज साम्प्रदायिक धर्म समझते हैं, वास्तव में हिन्दू-धर्म से स्वतन्त्र वे कोई भिन्न धर्म नहीं

हैं। जिन महापुरुषों के नाम पर ये साम्प्रदायिक धर्म चले हैं उन्होंने स्वयं कोई अपना नवीन या भिन्न धर्म चलाना नहीं चाहा था। हिन्दू-धर्म के जो सर्वमान्य सार्वभौमिक सिद्धांत हैं और उनके अनुकूल जो आचरण हैं वे जब-जब व्यक्तिगत, साम्प्रदायगत स्वार्थपरता के कारण दूषित हुए हैं, तब-तब महात्माओं ने अवतीर्ण हो उन्हें सुधारा है और अपने युग के अनुसार हिन्दुओं के एक वा अधिक सिद्धांतों पर अधिक जोर दिया है। इस का प्रमाण यही है कि हिन्दू-धर्म के आज जितने भी सम्प्रदाय हैं उन के मौलिक सिद्धांतों में किञ्चत् भी विरोध नहीं है। हिन्दुओं में तीन-चौथाई सनातनियों की संख्या है और उन सब का धर्म हर प्रकार से एक है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कर सकता। आर्य-समाजियों का धर्म भी वही है जो सनातनियों का है, इसे स्वयं आर्यसमाजी भी मानते हैं। दोनों का धर्म वैदिक धर्म है। अब रह गये जैनी और बौद्ध। साधारणतः यह धारणा है कि ये दोनों धर्म अवैदिक हैं, अतएव ये हिन्दूधर्म से भिन्न हैं। पर वास्तव में यह भूल है। इन धर्मों के उन्नति-काल की अवस्था जानने और उनके धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने से ही यह विदित हो जायगा कि उनके धार्मिक सिद्धांत भी वे ही हैं जो वैदिक हिन्दुओं के हैं। वेद ने "अहिंसा" परमो धर्मः" माना है, इनका भी अहिंसा परम धर्म है। फिर इनका धर्म वेद-विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है? सच बात तो यह है कि इन्होंने वेदों की निन्दा नहीं की थी। वेद के नाम पर जो

अधर्म हो रहा था उसकी निन्दा की थी । बुद्ध को सभी हिन्दू अवतार मानते हैं।

हिन्दूधर्म के प्रधान आचार्य भगवान् शंकर ने भगवान् बुद्ध की इस प्रकार स्तुति की है:—

धराबद्धपद्मासनस्थाङ्घ्रियष्टिः,
नियम्यानिलं न्यस्तनासाग्रदृष्टिः ।
य आस्ते कलौ योगिनां चक्रवर्ती,
स बुद्धः प्रबुद्धोऽस्ति निश्चिन्तवर्ती ।

(शंकर ग्रन्थमाला)

श्रीमद्भागवत् में बुद्ध भगवान् के सम्बन्ध में निम्न पद्य आये हैं:—

द्वैपायनो मां भगवानप्रबोधात् ।
बुद्धस्तु पाखण्डगणात्प्रमादात् ।

(श्रीमदभागवत्)

कूर्म-पुराण भगवान् बुद्ध के विषय में यह कहता है—

नमो वेदरहस्याय, नमस्ते वेदयोनये,
नमो बुद्धाय शुद्धाय, नमस्ते ज्ञानरूपिणे ।

(कूर्म-पुराण)

परम कृष्णभक्त जयदेव ने भक्तिपूर्ण मधुर राग में गाया है—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम् ।
सदय--हृदय –दर्शितपशुघातम् ।
केशव धृत-बुद्ध-शरीर, जय जगदीश हरे ॥

सभी हिन्दू बुद्ध की भक्ति इसी प्रकार करते हैं। बुद्ध ने वेदाज्ञा के बहाने होने वाली पशुहत्या और अन्य धार्मिक अंधेरों की निन्दा की, वेद की नहीं और न वेद-धर्म की। बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म से भिन्न नहीं है। इसके बाद सिक्ख धर्म आता है। इसे हिन्दू-धर्म से अलग समझना भ्रांत धारणा है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिये ही हुई थी। खालसा के संस्थापक गुरु गोविन्दसिंह कहते हैं—

नमो वेद विद्या नमो यज्ञ रूपा ।
नमो अंजनी पूर्ण भूपाल भूपा ॥

सकल जगत में खालसा पंथ गाजे ।
बढ़े धर्म हिन्दू सकल भंड भाजे ॥

यह वाणी सिक्ख-सम्प्रदाय का उद्देश बतलाने के लिये पर्याप्त है। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि किसी धर्माचार्य्य की इच्छा अलग स्थायी सम्प्रदाय स्थापित करने की नहीं थी।

सभी सम्प्रदायों की उत्पत्ति सामयिक परिस्थिति को लक्ष्य में रख कर हुई है। सभी हिन्दू-धर्म की रक्षा चाहते थे। पर अब ये सम्प्रदाय स्थायी हो गये हैं। उपासना के मार्ग में इन में कुछ विभिन्नता है। पर इन सम्प्रदायों की एकता आज भी ज्यों-की-त्यों है। सभी सम्प्रदाय एक ईश्वर या ब्रह्म को मानते हैं। निर्माण या मोक्ष उसी ब्रह्म की प्राप्ति का नाम है। सभी 'आचार प्रभवो धर्मः' का सिद्धान्त मानते हैं। ईसाई या मुसलमान-मत की तरह केवल सिख, बौद्ध या सनातनी होने को ही वे मुक्ति का मार्ग नहीं समझते। सभी हिन्दू-सम्प्रदायों का यह विश्वास है कि उपासना का यही एक मार्ग नहीं है जिसे हम करते हैं, 'आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरं। सर्वदेव-नमस्कारं केशवं प्रति गच्छति" के सिद्धान्तों को सभी मानते हैं। सब का पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास है, सभी कर्मफल के कायल हैं। आत्मा के अमरत्व पर सब का विश्वास है। इसके सिवा अन्य कितने समान सिद्धान्त हैं। ये सिद्धान्त सभी सम्प्रदायों के हैं। यह हिन्दू-धर्म के सिद्धान्त हैं। ये किसी अन्य धर्म के सिद्धान्त नहीं हैं। ये हिन्दू सम्प्रदायों की और समान हिन्दू धर्म की विशेषता है। इसकी रक्षा करना सभी सम्प्रदायों का कर्त्तव्य हैं, इसलिये इस धर्म की रक्षा के लिये सभी हिन्दू संगठित हो सकते हैं। तीसरा आधार—

समान जन्मभूमि

है। सभी हिन्दू-सम्प्रदायों की जन्मभूमि भारत है। यही इनका

वासस्थान है, यहीं इनके पूर्वज और धर्म-संस्थापक उत्पन्न हुए हैं। इसलिए आसेतु-हिमाचल और सिन्धु नदी से बंगसागर तक यह समग्र हिन्दुस्थान देश समग्र हिन्दू जाति का अखण्ड और पवित्रतम तीर्थ-स्थान है। यह जन्मभूमि प्रत्येक हिन्दू के लिये 'स्वर्गादपि गरीयसी' है। जिसके विषय में 'धन्यास्तु ते भारत-भूमि भागे' की धारणा है, वह भारतभूमि प्रत्येक हिन्दू की जन्मभूमि और पुण्यभूमि है। उसकी रक्षा के लिये सब हिन्दू एक हो सकते हैं। इसके सिवा समान संस्कृति और समान इतिहास भी संगठन के आधार हैं। हिन्दू जाति की संस्कृति प्रत्येक हिन्दू-सम्प्रदाय की संस्कृति है और भारत का इतिहास सब का इतिहास है। उस संस्कृति और इतिहास के गौरव की रक्षा करना हिन्दू-मात्र का कर्तव्य है। संगठन का एक दूसरा आधार—

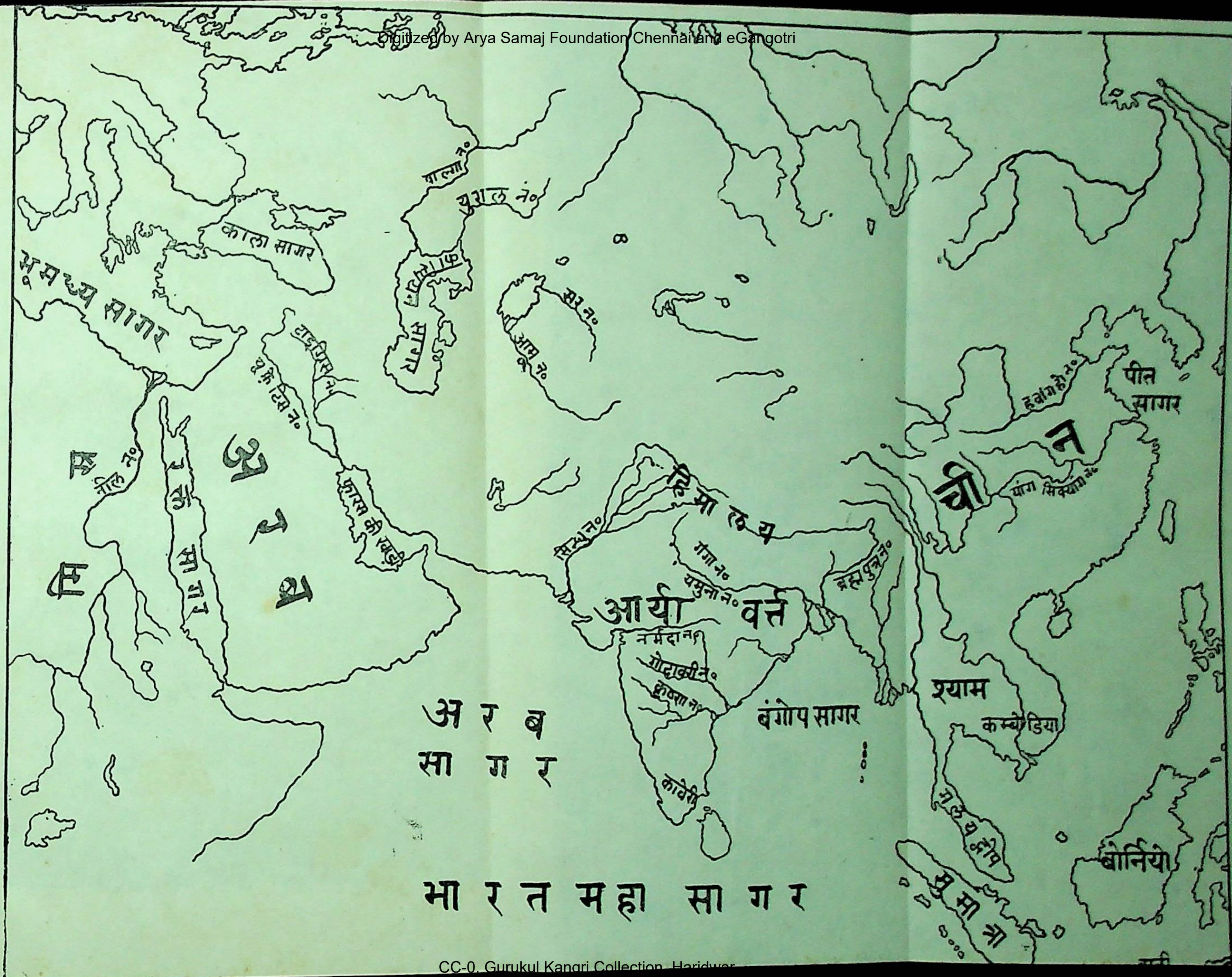
समान अधिकार

भी हैं, और यह एक बहुत प्रबल आधार है। पहले सभी हिन्दुओं की भाषा एक थी, सब की भाषा संस्कृत थी, पर अब सब की भाषा एक नहीं है। अब अलग अलग प्रान्तीय भाषायें हैं। पर इन भाषाओं के मूल में आज भी संस्कृत भाषा है। जितनी प्रान्तीय-भाषायें हैं सब का साहित्य संस्कृत-साहित्य के प्रभाव से ओत-प्रोत है। दाक्षिणात्यों की भाषा तामिल और तेलगू है, पर संस्कृत-साहित्य का वहाँ भी पूरा प्रभाव है। सब के उदाहरण और रूपकों में रामायण और महाभारत की कथाओं और घटनाओं का वर्णन पाया जाता है। सिक्खों को छोड़ कर

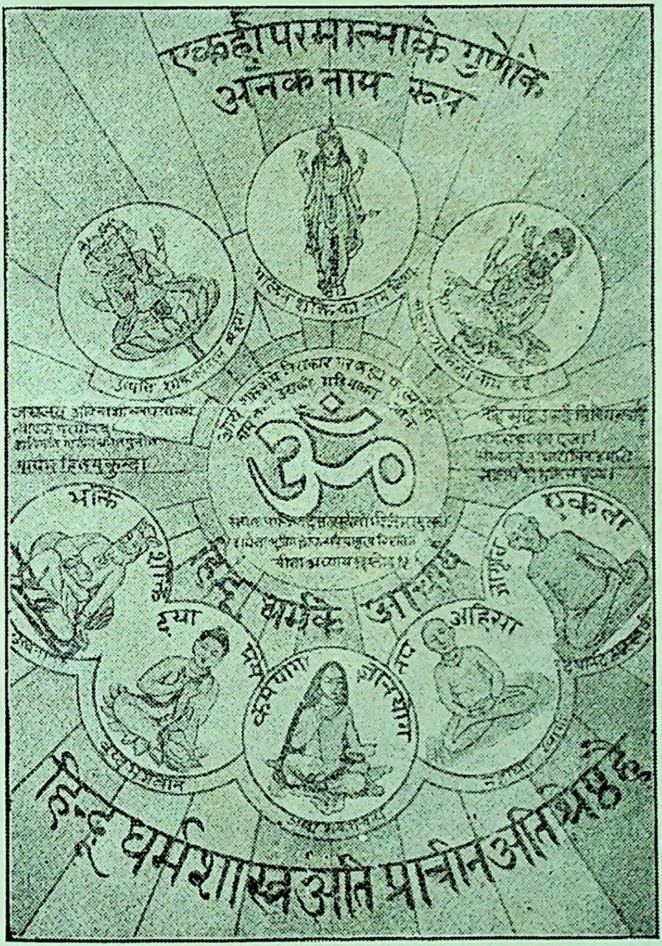
सब के धर्म-ग्रन्थ संस्कृत अथवा प्राकृत में हैं। इस प्रकार भाषा की भीतरी एकता है। पर बाहरी एकता नहीं है, यह एकता स्थापित करनी होगी। हिन्दी को एक राष्ट्र-भाषा बनानी होगी जिसके लिये पर्याप्त आधार है। संगठन का अन्तिम परन्तु वर्तमान युग में सब से महत्व का आधार **समान राजनैतिक स्वार्थ** है जिसको ध्यान में रखना समस्त आर्य—धर्मियों का प्रधान कर्तव्य है।

प्रकाशक—

सूचनिका


भूमध्य सागर
काला सागर
वाल्गा नं०
यूराल नं०
सर नं०
आमू नं०
टाइग्रिस नं०
यूफ्रेटीस नं०
अरब
फारस की खाड़ी
लाल सागर
नील नं०
मिस्र
सिन्धु नं०
हिमालय
गंगा नं०
यमुना नं०
आर्यावर्त्त
नर्मदा नं०
गोदावरी नं०
कृष्णा नं०
कावेरी
ब्रह्मपुत्र नं०
बंगोप सागर
अरब सागर
भारत महा सागर
चीन
ह्वांगहो नं०
पीत सागर
यांग सिक्यांग नं०
श्याम
कम्बोडिया
मलय द्वीप
सुमात्रा
बोर्नियो

हिंदू धर्म प्रवेशिका



ॐ

हिन्दू-धर्म प्रवेशिका

१

हिन्दू (आर्य) धर्म

हिन्दू (आर्य) धर्म वह सर्वश्रेष्ठ धर्म है जिसका लक्षण इस प्रकार है:—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (कणाद-वैशेषिक सू० १।२)

अर्थात जिस विधि से दोनों लोकों में सुख प्राप्त हो, मनुष्य इस लोक में जिस मार्गसे शारीरिक तथा मानसिक सुख-समृद्धिके भोगों को प्राप्त कर सके और जिस विधि से परलोक में बाधा पहुँचाने वाले कर्मों का त्याग कर सके, वही धर्म है। अर्थात् जो लोक-परलोक दोनों में कल्याण का देनेवाला हो, वही धर्म है। धर्म की विस्तृत व्याख्या श्रीमान् पं० बाल गंगाधर तिलक द्वारा गीता-रहस्य में की गई है, जिसका भावार्थ यहाँ कहा जाता है:—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः (म० भा० शान्ति० १०६।११)

जिस के बिना संसार चल न सके, स्थिर न रह सके और जो पृथ्वी तथा लोकों को धारण करता हो, जिससे सब कुछ

नियमबद्ध रहे और जिससे जनता की वृद्धि हो, वही धर्म है; महाराज मनु ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है:—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। (मनु० ६।६२)

धैर्य, क्षमा, दम (मानसिक शत्रु—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि तथा बाहरी शत्रु—दुष्ट, पापी, आततायी आदि का दमन) चोरी न करना, बुद्धि (विवेक), विद्या (ज्ञान), सत्य (न्याययुक्त व्यवहार), अक्रोध (क्रोध न करना) आदि त्रिकालाबाधित सद्गुणों के समूह का नाम ही धर्म है।

धर्म के इन दस लक्षणों के समान ही गीता में भगवान् कृष्ण ने दैवी-सम्पदा के लक्षण बताये हैं:—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।। (गीता १६।१)

निर्भयता, अन्तःकरण की स्वच्छता, तत्वज्ञान में दृढ़स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, उत्तम कर्मों का आचरण, वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन, जप तथा मन की सरलता—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।। (गीता १६।२)

अहिंसा (मन, वाणी, शरीर से किसी को कष्ट न देना) सत्य बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शांति, परनिन्दा न करना, प्राणियों पर दया, इन्द्रिय-लोलुपता का अभाव, लोक और शास्त्र के विरुद्ध आचरण न करना, व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ (गीता १६।३)

तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, किसी के प्रति भी शत्रुभाव का न होना तथा अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव आदि सब लक्षण दैवी-सम्पदा के हैं। ऐसे ही लोक-हितकारी सद्गुणों के समूह को धर्म कहते हैं।

जिस प्रकार सत्य, भक्ति, दया आदि सद्गुण न ईसाई हैं, न मुसलमान और न हिन्दू, उसी प्रकार धर्म को भी किसी एक देश या जाति की सम्पत्ति मानना भ्रम है। धर्म तो मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति है और किसी देश व काल में, हितकर मार्ग ही दिखाता है।

हिन्दुस्थान (आर्यावर्त)

हिन्दू-धर्म को मानने वाले प्राचीन काल में आर्य बोले जाते थे। इसीलिए इनका देश आर्यावर्त कहलाता था। यही आर्य लोग शनैः शनैः विदेशियों द्वारा हिन्दू कहलाने लगे, एवं इनका देश भी हिन्दुस्थान कहलाने लगा। इसी हिन्दुस्थान देश को दिखाने के लिए इस पुस्तक के प्रारम्भ में एक नक्शा दिया गया है।

बालको ! इस नक्शे पर दृष्टि डालो। अपने इस एशिया-खंड में और जहाँ एशिया से अफ्रीका मिलता है, उस कोने में तुम्हें कितनी ही बड़ी बड़ी नदियां देखने में आती हैं। (१) एक यह नील नदी है जो मिस्र में है (२) इसके पास ये दूसरी दो—युफ्रेटिस और टाइग्रिस नदियां हैं (३) एशिया के सामने भाग में चीन में दो नदियां हो-आंग-हो और यांग-सी-क्यांग हैं (४) बीच में आमू और सर नदी, और इनके पास कास्पियन* सागर तथा वाल्गा और युराल नदियां हैं (५) वहाँ से चल कर हिन्दुस्थान (आर्यावर्त) में आने पर सिन्धु, गङ्गा, यमुना, और नर्मदा हैं और इन्हें उल्लङ्घन कर दक्षिण में गोदावरी, कृष्णा और कावेरी नदियां हैं।

हिन्दुस्थान की प्राकृतिक महिमा

नदी के किनारे अनाज और घास-चारे अच्छे हुआ करते हैं, पशुओं के पीने के लिये पानी भी खूब होता है, और यदि छोटी-छोटी नाव बनाना आता हो तो जल के मार्ग से यात्रा करने और माल के आने जाने में बहुत सी सुविधायें मिलती हैं। इस कारण प्राचीन काल में नदियों के प्रदेश में मनुष्यों ने बस कर अपना सुधार और उन्नति की; अर्थात् व्यापार, शिल्प-कला, साहित्य, कुटुम्ब, राज्य-धर्म आदि विद्या, जिन-जिन बातोंमें सभ्य

** कास्पियन-सागर का नाम काश्यप मुनि के नाम से 'काश्यप-सागर' पड़ा। काश्यप का अपभ्रंश ही कास्पियन है।*

मनुष्य जङ्गली मनुष्यों की अपेक्षा बढ़े-चढ़े हैं, इन सब बातों का इन्हीं नदियों के प्रदेश में विकास हुआ।

इनमें से पहले दो प्रदेशों में अर्थात् मिस्र और मेसोपटामिया में आर्य धर्म और हरएक प्रकार के प्राचीन सुधार नष्ट हो गये। जमीन खोदने पर उसमें से बासन, हथियार, मुद्रा, अक्षरांकित ईंटें इत्यादि पदार्थ निकलते हैं, जिनके आधार पर वहाँ की आर्य-सभ्यता के विषय में हम बहुत कुछ जानते हैं। किन्तु सिन्धु और गङ्गा-यमुना के प्रदेश में बसे हुए लोगों ने जैसी पुस्तकें रचीं, वैसी नील तथा युफ्रेटिस और टाइग्रिस के प्रदेशों में—जो मिस्र, आसीरिया, चेल्डिया और बेबीलोनिया के नाम से विख्यात है—बसने वाले लोगों ने नहीं रचीं। हो-हांग-हो और यांग-सी-क्यांग का तीसरा प्रदेश जो चीन देश कहलाता है, उसकी सभ्यता अभी वर्तमान है। किन्तु इस देश के लोगों ने भी गङ्गा-यमुना के प्रदेश में उत्पन्न हुए आर्य-बौद्ध धर्म को स्वीकार किया है। कास्पियन-सागर और उसके आस पास की नदियों के किनारे पर बसी हुई प्राचीन सभ्य प्रजा आर्य जाति के नाम से कही जाती है। यह जाति बहुत पुराने समय से ग्रीस, रोम, ईरान (आर्यन) हिन्दुस्थान और भिन्न-भिन्न स्थानों में फैली हुई थी। यह आर्य जाति सिन्धु नदी के किनारे बसी। वहाँ से गङ्गा-यमुना के प्रदेश में इन आर्य लोगों ने जो धर्म फैलाया, वही दक्षिण हिन्दुस्थान में फैला। हमारा यह मत निःसन्देह ठीक है कि पृथ्वी पर फैले हुए धर्मों में, सिन्धु और गङ्गा नदी के प्रदेश में विकसित

हुआ धर्म, जिसे हिन्दू धर्म कहते हैं, जितना पुराना है, उतना पुराना और कोई धर्म नहीं है। इससे भी महत्व की बात यह है कि इस धर्म का प्रभाव प्राचीन काल से हिन्दुस्थान के बाहर पश्चिम में मिश्र और योरुप तक तथा उत्तर-पूर्व में तिब्बत, चीन और जापान तक तथा दक्षिण-पूर्व में लंका, ब्रह्मादेश, सुमात्रा, बाली, जावा (यवद्वीप) टापुओं तक पहुँचा था। यह सब द्वीप और देश भी हमारे नक्शे में दिखाए गए हैं। इसधर्म को हम इसके मूल उत्पत्तिस्थान सिन्धु के आधार पर "हिन्दू-धर्म" कहते हैं।

इस धर्म की प्राचीन पुस्तकें, जो सहस्रों वर्ष पहले की हैं, आज भी विद्यमान हैं, और यद्यपि इस धर्म के स्वरूप में देश-काल के अनुसार बड़े फेरफार हुए हैं, तथापि इसके मूल तत्त्व अब तक विद्यमान हैं। सिन्धु और गङ्गा के किनारे बसने वाले प्राचीन आर्यों ने परमात्मा के विषय में जो सिद्धान्त स्थिर किए थे, वे ही सिद्धान्त हिन्दू लोग अब तक मानते हैं, और जैसे वह सूर्य को सामने देख उस के तेज में परमात्मा का ध्यान करते, उसकी स्तुति करते और अग्नि द्वारा आहुति देते थे, वैसा ही आजकल के हिन्दू भी करते हैं।

ऐसे प्राचीन काल से चले आये हुए धर्म का स्वरूप हर एक हिन्दू बालक को जानना उचित है। उसे सरल रीति से समझाने की चेष्टा की जायगी। किन्तु यदि कोई नवीन बात जाननी हो तो उस विषय में मन लगाना पड़ता है और बुद्धि से भी काम लेना

पड़ता है, इसलिये आशा की जाती है कि आप भी ऐसा ही करेंगे।

आज तो हिन्दू धर्म क्या है, यह धर्म कहाँ उत्पन्न हुआ और कहाँ-कहाँ फैला, कितना पुराना है, इत्यादि बातों को स्मरण रखा जायगा तो पर्याप्त होगा।

कला = विद्या
सिद्धान्त = निर्णय, मत
विकास = उन्नति
अग्निद्वारा आहुति = यज्ञ, होम
पर्याप्त = यथेष्ट, खूब।

२

हिंदू-धर्म के शास्त्र

बालकों ! परमेश्वर को समझना, उसका भजन और उसकी इच्छानुसार काम करना, तथा इस भांति अपने और सबके जीवन का कल्याण करना, इसका नाम धर्म है। इस सम्बन्ध में हिन्दुस्थान में बहुत प्राचीन काल से पुस्तकें लिखी गई हैं और वे हिन्दू-धर्म के शास्त्र कहलाते हैं। अर्थात जिन पुस्तकों में ईश्वर-आज्ञा या ज्ञान के वचन हैं, वे ही 'शास्त्र' हैं।

इस शास्त्र के कौन-कौन विभाग बड़े हैं और वे इतिहास में किस क्रमसे उत्पन्न हुए हैं, इस विषय में कुछ जानना चाहिये। जैसे कल हिन्दू-धर्म के भूगोल की आलोचना की गई थी, वैसे ही आज हिन्दू-धर्म के इतिहास का दिग्दर्शन कराया जायगा। इस इतिहास में, इन शास्त्रों के तिथि-संवत् के कठिन प्रश्न देकर तुन्हें हैरान नहीं किया जायगा।

(१) हिन्दू-धर्म के सब शास्त्रों का मूल-प्रथम शास्त्र❀ 'वेद'

❀ वेद को यथार्थ समझने के लिये ये छः विद्यायें जाननी परम आवश्यक हैं- १- शिक्षा २—कल्प ३—व्याकरण ४—छन्द ५—ज्योतिष ६—निरुक्त। इसलिये ये छः विद्यायें वेद के छः अङ्ग कहलाती हैं।

(अर्थात् धर्म-सम्बन्धी ज्ञान की पुस्तकें) हैं। वेद को 'श्रुति'—सुना हुआ भी कहते हैं। कारण यह है कि 'ज्ञान' ऋषियों ने साक्षात् परमात्मा से सुना था, अर्थात् उन ऋषि मुनियों के निर्मल अन्तःकरण में परमात्मा की ओर से अलौकिक ज्ञान प्राप्त हुआ था। यही वेद है। 'वेद' संसार में सब से प्राचीन पुस्तक है।

संसार का इतिहास यह पता नहीं लगा सका है कि वेद का निर्माण कब हुआ। पाश्चात्य सभ्यता के अनुयायी भी यह मानते हैं कि यद्यपि वेद अति प्राचीन हैं, तब भी वे लोग यही कहते हैं कि अब से आठ सहस्र वर्ष पूर्व वेदों की पुस्तकें निर्माण की गई थीं। यह बात निर्विवाद है कि सब से प्राचीन और ज्ञान-निधि यदि कोई पुस्तक है तो 'वेद' है। वेद में परमात्मा की स्तुति, यज्ञ-कर्म का वर्णन और परमात्मा के स्वरूप के विषय में विचार किया गया है और इस सम्बन्ध की पुस्तकें क्रम से संहिता[1], ब्राह्मण[2] और उपनिषद्[3] कहलाती हैं।

---

१ संहिता चार है। इनके नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं।

२ ब्राह्मण चार हैः—शतपथ, गोपथ, ऐतरेय और तैत्तिरीय।

३ उपनिषद्—यद्यपि उपनिषद् इस समय प्रायः १०८ की संख्या में पाये जाते हैं, परन्तु प्रधान उपनिषद् १२ माने जाते हैं जिनके नाम ये हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर और कौषीतकी।

(२) इस समय के पश्चात् जो प्राचीन ऋषियों ने सुना था और सबको सुनाया था, उस विषय में नये ऋषियों ने विचार आरम्भ किया। उन्होंने प्राचीन ज्ञान का स्मरण कर नये ग्रन्थ रचे। यह ग्रन्थ 'स्मृति'—अर्थात् स्मरण किया हुआ ज्ञान—कहलाते हैं। इनमें परमात्मा-सम्बन्धी विचार को छोड़, पुराने रीति-रिवाज क्या थे और वे किस रीतिसे पालन किये जाते थे, इत्यादि विषयों की आलोचना है। भिन्न-भिन्न ऋषियों के कुलों ने स्मृतियों की छोटी-छोटी पुस्तकें रची हैं और उन पर से (मनु, भृगु, याज्ञवल्क्य इत्यादि) बड़े-बड़े ग्रन्थ बनाये गये हैं। महाभारत, रामायण और पुराणों* में इस विषय की वार्तायें हैं, अतएव उन की भी स्मृति में गिनती होती है।

(३) इस समय के बाद जब इस तरह की पुस्तकें बहुत हो गईं तब इन सब में से धर्म-सम्बन्धी क्या सार निकलता है, यह बतलाने वाले आचार्य हुए। उन के बड़े ग्रन्थ 'भाष्य' कहे जाते हैं। ऐसे भाष्य बनाने वालों में मुख्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य दक्षिण हिन्दुस्थान में जन्मे थे।

(४) अन्त में सन्त-साधुओं ने देश की प्रचलित भाषा में परमेश्वर-विषयक ज्ञान और भक्तिके पद गाये तथा धर्म और नीति

---

* पुराण १८ हैं—ब्रह्म पद्म, ब्रह्माण्ड, अग्नि, विष्णु, गरुड़, ब्रह्मवैवर्त्त, शिव, लिङ्ग, नारद, स्कन्द, मार्कण्डेय, भविष्य, मत्स्य वराह, कूर्म, वामन और भागवत।

का उपदेश किया। यह सन्तों की वाणी हिन्दू धर्म के शास्त्रों में गिनने योग्य है; कारण यह कि बहुत से हिन्दू इसे इसी भाव से पढ़ते हैं और इसकी रचना करने वालों को गुरु के समान मानते हैं। कबीर, नानक, रामदास, तुकाराम, मीराबाई, तुलसीदास आदि महात्माओं के नाम सारे हिन्दुस्तान में जाने हुए हैं और इनमें से कितनों ही के बड़े बड़े पन्थ चलते हैं, जिनमें से सब से बड़ा पन्थ गुरु नानक का चलाया हुआ सिक्ख सम्प्रदाय गिना जाता है, जिसने अपनी वीरता और धीरता से मुसलमानों के शासनकाल में हिन्दू धर्म की बड़ी रक्षा की थी। इस समय भी सिक्ख लोग अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध हैं। गुरु नानक का जन्म क्षत्रिय-कुल में हुआ था। उन्होंने भक्ति के साथ साथ धर्म की रक्षा के लिये क्षात्र-धर्म का भी ऐसा उपदेश दिया, जिससे प्राचीन क्षात्र-तेज फिर से प्रकट होकर अत्याचारियों के नाश का कारण बन गया। सिक्ख-सम्प्रदाय की विशेषता यह है कि इसमें जाति-भेद नहीं हैं।

अब इन भिन्न-भिन्न शास्त्रों के समय का कुछ वृत्तान्त तुम से कहना चाहिये। किन्तु उस समय का केवल कोरा वृत्तान्त सुनाना तुम्हें रोचक न होगा, अतएव उस समय के कुछ चित्र तुम्हारे सामने रखे जायेंगे, जो तुम्हें अवश्य रुचिकर होंगे।

❀

आलोचना = निरूपण, विचार। दिग्दर्शन = कुछ विचार करना।

३

एक ही परमात्मा के अनेक नाम

स एष एक एव वृहदेक एव ।

अथर्व १३-४-२०

अर्थात्—एक वही सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अनादि, अनन्त, परब्रह्म परमेश्वर है, जो सर्वव्यापक हो रहा है, दूसरा कुछ नहीं ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

ऋग्वेद १-१६४-४६

अर्थात्—उस एक ही परब्रह्म परमात्मा को ऋषि-मुनियों ने (ब्रह्मा, विष्णु, शिव, महामाया) आदि भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण तथा वर्णन किया है ।

स ब्रह्मा स शिवः स हरिः स इन्द्रः सोऽक्षरः परमः स स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालो स अग्निः स चन्द्रमा ॥

—तैत्तरीय आरण्यक ।

अर्थात्—सर्वशक्तिमान् और समस्त जगत् का प्रकाशक वह परमात्मा ही ब्रह्मा (सृष्टिकर्त्ता) है, वही शिव (विनाशक-शक्ति) है, वही हरि (पालन करने वाली शक्ति) है, वही इन्द्र है, अवि-

नाशी है, वही सर्वव्यापक विष्णु है, वही जगत् का जीवनाधार है, वही काल है, अग्नि है तथा चन्द्रमा है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

—गीता अ० ११ श्लोक ३९ ।

अर्थात्—वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और प्रजापति ब्रह्मा तथा प्रपितामह अर्थात् ब्रह्मा के भी पिता आप ही हो, आप को नमस्कार है, सहस्र बार नमस्कार करके भी आपको बारम्बार नमस्कार है।

सन्त सुन्दरदासजी का पद

एक कहूँ तो अनेक सो दीसत, एक अनेक नहीं कछु ऐसो ।
आदि कहूँ तिहि अन्तहि आवत, आदि न अन्त न मध्य सु कैसो ॥
गोप्य कहूँ तो अगोप्य कहा यह, गोप्य अगोप्य न ऊभो न वैसो ।
जोई कहूँ सोइ है नहि सुन्दर, है तो सही पर जैसे को तैसो ॥

देवों में मुख्य

(१) **इन्द्र**—जो अपने वज्र के द्वारा पर्वतों को चीर कर दैत्यों से बांधी हुई गाय को छुड़ाता है, दैत्यों को मारता है, आर्य लोगों को युद्ध में जिताता है, वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर 'इन्द्र'

है। इन्द्र और दैत्यों का युद्ध तो आकाश में होते हुए बादलों का तूफान और गर्जना का द्योतक है, वज्र बिजली और पर्वत बादलों का द्योतक है, उन पर्वतों में बन्धी हुई गायें वर्षासूचक हैं।

(२) वरुण और मित्र--सारे विश्व में व्यापक पाप-पुण्य देखने वाले देव वरुण हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं है। रात्रि में जब सब ओर अन्धकार छाया रहता है तब भी यह देव जागते रहते हैं। यदि दो मनुष्य कहीं चुपचाप कुछ बात करते हों तो वहाँ भी यह तीसरा रहता ही है। दिन में हमारे मित्र की तरह हमें बुलाने वाले और कामों में सहायता करने वाले परमेश्वर, मित्र नाम से पुकारे जाते हैं।

(३) सूर्य (सविता)--यह इस जगत् के सब पदार्थों को उत्पन्न करने वाले और चलाने वाले देव हैं।

(४) विष्णु—यह देव विश्व में व्यापक हैं। इन का धाम मधुरता, सुख और तेज से भरपूर है।

(५) रुद्र--यह आंधी और प्रज्वलित अग्नि में दिखाई देने वाला, परमेश्वर के क्रोध और प्रचण्डता का रूप है।

(६) अग्नि--यह घर-घर में प्रकाशमान परमेश्वर का रूप है। इसमें हवन की हुई वस्तु देवता को मिलती है, अतएव यह देवताओं का 'होता' अर्थात् बुलाने वाला कहा जाता है।

(७) यम—यह हमें नियम में रखने वाला, मृत्यु के पश्चात् परलोक का देवता है।

(८) अदिति, हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, पुरुष – अब कुछ ऊंची दृष्टि से देखो। यह आकाश अखण्डरूप से व्याप्त है, इस के टुकड़े हो नहीं सकते। यह सूर्य आदि की माता 'अदिति,' उस परमेश्वर का अखण्ड अनन्त स्वरूप है। उस परमेश्वर रूप तेज के खंड में से यह सारा जगत् मानों पर फड़-फड़ा कर निकला है, अतः उस परमेश्वर का नाम 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। वही इस जगत् में आत्मरूप से भरपूर है, इस लिए उसे 'पुरुष' कहते हैं।

ऋषि लोग इन देवतारूपी प्रभु की शक्तियों की स्तुति करते, अग्नि में उन के निमित्त आहुति देते और उन से धन-धान्य, पशु और कुटुम्ब का सुख मांगते थे। इसके साथ ही वे यह मानते थे कि यह विश्व एक सत्य की ही सीधी रेखा पर चलता है। वह विश्व कहाँ से आया, किसने रचा, किस रीति से रचा गया इत्यादि जगत् और ईश्वर-सम्बन्धी गम्भीर प्रश्नों पर वे विचार करते थे।

卐

४

जनक राजा की सभा

पूर्वकाल में यहाँ के राजा धर्मात्मा और केवल संसार की भलाई के लिए ही राज्य करने वाले होते थे। ऐसे अनेक राजा हो गये हैं, उनमें से एक मिथिला में जनक नाम के महाज्ञानी राजा थे। वे सिंहासन पर बैठ उत्तम रीति से राजकाज चलाते थे। उनके ज्ञान की कीर्ति ऐसी फैली हुई थी कि दूर-दूर देशों के ब्राह्मण भी उनके पास ज्ञान सीखने आते थे। उस समय राजाओं के यहाँ बड़े बड़े ज्ञान-यज्ञ हुआ करते थे, जिनमें विद्वान् लोग मिलकर आपस में प्रश्न पूछ कर परमेश्वर-विषयक चर्चा चलाते थे। जनक राजा ने भी एक ऐसा यज्ञ किया और ब्राह्मणों को बहुत दक्षिणा दी। इस यज्ञ में ठेठ कुरु-पाञ्चाल देश तक के ब्राह्मण एकत्र हुए थे। जनक राजा को यह जानने की इच्छा हुई कि इन ब्राह्मणों में सब से श्रेष्ठ विद्वान् कौन है ? अतएव उन्होंने एक हजार गायें एक वाड़े में इकट्ठी कर और उनमें से प्रत्येक की सींग में मुहरें बांधकर उन ब्राह्मणों से कहा, "महाराज ! तुम्हारे मध्य में जो ब्रह्मिष्ठ (परमेश्वर के ज्ञानमें सबसे श्रेष्ठ) हो, वह इन गायों को ले जाय।" किसी ब्राह्मण की ऐसा करने की हिम्मत न हुई, केवल याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा, "अरे सोमश्रवा ! इन गायों को हांक ले

जाओ ?" ब्राह्मण याज्ञवल्क्य पर कुपित होकर बोले–'अरे याज्ञवल्क्य ! तू क्या ब्रह्म को सब से अधिक जानने वाला है ?' जनक राजा के यज्ञ में अश्वल नामक ब्राह्मण 'होता' था, उसने आकर पूछा 'याज्ञवल्क्य ! क्या तुम ब्रह्म को सब से अधिक जानते हो ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, 'ब्रह्म को कौन जान सकता है ? उसे जानने वाला जो पुरुष होगा उसे तो हम नमस्कार करते हैं, हमें तो केवल ये गायें चाहियें ।' अश्वल से लेकर यज्ञ में एकत्र सभी ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य से लगातार प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्य ने उनके उत्तर दिये । इन प्रश्न करने वालों में वाचक्नवी गर्ग-गोत्र की (गार्गी) एक स्त्री भी थी । इस बात से यह ज्ञात होता है कि स्त्रियां भी परमेश्वर-सम्बन्धी कठिन प्रश्नों की चर्चा में भाग लिया करती थीं । इस गार्गी-वाचक्नवी ने याज्ञवल्क्य से कहा, 'याज्ञवल्क्य ! मैं तुम से दो प्रश्न पूछती हूँ और यदि तुम उनका उत्तर दे सको तो निःसन्देह यहाँ पर एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं जो तुम्हें जीत सकेगा । एक प्रश्न यह है कि जो इस गगन के पार और इस पृथ्वी के नीचे रहता है, जिससे बीच में यह गगन और पृथ्वी लटके रहते हैं, जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में रहता है, वह किस वस्तु में ओत-प्रोत है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'आकाश में । हमसे बाहर यह दृश्यमान सारा जगत् आकाश में ओत-प्रोत है । यह कथन बिलकुल ठीक है ।' गार्गी के एक प्रश्न का इस बात से

यथार्थ उत्तर मिल गया। तत्पश्चात् गार्गी ने याज्ञवल्क्य से नमस्कार कर कहा—'ऋषि जी ! अब मैं दूसरा प्रश्न पूछती हूँ, जिसे सावधान होकर सुनिये।'

फिर गार्गी ने दूसरा प्रश्न पूछा कि 'अच्छा ! तो आकाश किस में ओत-प्रोत है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'अक्षर में। अक्षर—

अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता—ऐसा ब्रह्म-परमेश्वर है, उसमें यह आकाश ओत-प्रोत है। हे गार्गी ! यह अक्षर न स्थूल, न अणु, न ह्रस्व, न दीर्घ है। उसके आँख नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, कुछ उसके अन्दर नहीं और न उसके बाहर। उस अक्षर की आज्ञा से ये सूर्य-चन्द्रमा अपने अपने स्थानों में स्थित रहते हैं—उसकी आज्ञा से गगन और पृथ्वी दोनों बंधे रहते हैं। कितनी ही नदियाँ इस बरफ से ढके हुए पर्वत से निकल कर पूर्व की ओर बहती हैं, कितनी ही पश्चिम की ओर बहती हैं, सब उसकी आज्ञानुसार बहती हैं। उसके सिवा कोई देखने वाला नहीं, उस अक्षर में यह आकाश ओत-प्रोत है। उसे जिसने जान लिया वह 'ब्राह्मण' है और जो नहीं जानता वह 'कृपण' —दया के योग्य, अज्ञानी है।'

इस प्रकार देवताओं के स्थान में केवल एक अक्षर, अविनाश परमेश्वर की चर्चा सुनकर, शाकल्य नाम का एक ब्राह्मण याज्ञवल्क्य से पूछने लगा—'याज्ञवल्क्य ! कितने देवता हैं ?'

याज्ञवल्क्य ने यही प्रतिपादन किया कि अन्त में सब देवताओं का समावेश एक परमात्मा में ही होता है, और यद्यपि उनके नाम भिन्न भिन्न हैं तथापि वे परमात्मा ही के विभिन्न रूप हैं।

इस के पश्चात् याज्ञवल्क्य बहुत वार जनक राजा के पास आने जाने लगे। जो परमज्ञानी राजा को भी ज्ञान दे सके, ऐसे उस समय में वे एक ही ऋषि थे। इस लिये जब कभी वे आते थे तभी राजा राज्यासन से उठ, उनके समक्ष बैठते और परलोक, परमात्मा आदि विषयों पर चर्चा करते थे।

होता = यज्ञ में देवताओं को बुलाने वाला। गगन = आकाश।
समावेश = समाना। ओत-प्रोत = गुथा हुआ।
अणु = बहुत छोटा। प्रतिपादन = निरूपण।

❀

५

गौतम बुद्ध और ब्राह्मण

ऋग्वेदसंहिता से लेकर उपनिषद् काल तक ब्राह्मण और क्षत्रियों ने परमेश्वर के विषय में और उसे प्राप्त कर लेने के मार्ग के सम्बन्ध में विशेष रूप से बहुत विचार किया और आपस के वाद-विवाद से इस विषय में जितना ज्ञान हो सकता था, उतना उन्होंने उपलब्ध करने का प्रयत्न किया। वाद-विवाद से बहुत ज्ञान बढ़ता है और मन में यह सन्तोष हो जाता है, कि अमुक विषय में कुछ विचारने की बात बची नहीं रही। किन्तु कुछ काल व्यतीत होने पर यह वाद-विवाद केवल शब्दों का युद्धमात्र हो गया, और ऋषियों के बतलाये हुए मार्ग, आंख मीच कर चलने की रूढ़ियां बन गये, अर्थात् पूर्वजों के उपदेश के मर्म को न समझ लोग केवल लकीर के फकीर हो गये। इस नये युग में जगत् के जगाने वाले दो बड़े उपदेशक जन्मे—एक महावीर स्वामी और दूसरे गौतम बुद्ध। बुद्ध भगवान् के हिंसा-निषेध का रहस्य और उनकी स्तुति का वर्णन, गीतगोविन्द में जयदेव कवि ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है—

गौतमबुद्ध और ब्राह्मण

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम् ।
सदयहृदयदर्शितपशुघातम् ॥
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे ।

बुद्ध भगवान् के सम्बन्ध में कहने योग्य और भी बहुत सी बातें हैं, पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि बौद्धों के जो पूज्य हैं, वे ही हमारे अवतार हैं। नित्य नैमित्तिक कामों में "बौद्धावतार" का नाम लिये विना हम सनातनधर्मावलम्बियों के किसी कर्म का संकल्प तक नहीं होता। आर्य-धर्म, आर्य-संस्कृति, सांस्कृतिक एकता आदि के प्रचार के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष और बौद्ध देश परस्पर की समान तथा प्राचीन संस्कृति का अवलोकन कर नवीन जीवन लाभ करें।

महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों के विषय में कुछ आगे कहा जायेगा। इस स्थान में तो केवल तुम्हें गौतम बुद्ध और ब्राह्मणों की एक कथा मात्र सुनाई जायगी, जिससे वह समय कैसा था इस बात का तुम्हें परिचय होगा।

पहिले किसी नगर में वशिष्ठ और भारद्वाज ऋषि के कुल के दो ब्राह्मण रहते थे। उन दोनों में ब्रह्म और उसकी प्राप्ति के विषय में विवाद चला। एक कहता था कि अमुक आचार्य का कहना ठीक है और दूसरा कहता था कि अमुक आचार्य का कहना ठीक है। इससे कुछ निर्णय न हो सका, इसलिये दोनों ने सोचा

कि चलो, हम बुद्ध भगवान् के पास चलें और उनसे पूछें। कहते हैं कि उनके सदृश ज्ञानी और साधु महात्मा दूसरा कोई नहीं है, अतः वह हमें ठीक बात समझायेंगे। दोनों गौतमबुद्ध के पास गए और उन्हें प्रणाम कर कहा—"महाराज ! परमेश्वर और उनकी प्राप्ति के विषय में ब्राह्मणों में अनेक मत प्रचलित हैं, कोई कुछ कहता है, तो कोई कुछ कहता है। अतएव उनमें से किसका कथन ठीक है, यह हमें समझ नहीं पड़ता। इसलिये क्या ठीक है, यह हमें बतलाइये ?"

गौतमबुद्ध—भाइयों ! उनमें से किसी ने तो परमेश्वर को देखा होगा ?

वशिष्ठ—नहीं, ऐसा तो मालूम नहीं होता।

बुद्ध—उनके गुरुओं ने कदाचित् देखा हो।

वशिष्ठ—उनके गुरुओं ने देखा हो—यह भी हमें प्रतीत नहीं होता।

बुद्ध—उनके गुरुओं के गुरु ने कदाचित् देखा हो।

वशिष्ठ—उन्होंने भी देखा हो—ऐसा हमें नहीं मालूम होता।

बुद्ध—तब तो तीन वेद के ज्ञाता ब्राह्मण भी, जिस वस्तु को उन्होंने कभी नहीं देखा, जाना नहीं, उसकी बातें करते और उस मार्ग को बतलाते हुए देखने में आते हैं।

वशिष्ठ—ऐसा ही है।

बुद्ध—तब तो यह अन्ध-परम्परा हुई। न आगे का मनुष्य देख सकता है, न बीच का देख सकता है, न पिछला ही देख सकता है। तीनों वेदों में निपुण ब्राह्मणों की वाणी भी केवल शब्दों का शुष्क आडम्बरमात्र है। वशिष्ट ! एक मनुष्य चौराहे के मैदान में बैठकर नसैनी बनाता है और उससे यह पूछा जाता है कि नसैनी से वह किस मकान पर चढ़ेगा? तो वह उत्तर देता है कि उस मकान को मैं जानता नहीं। वह नसैनी कैसी और कितनी बड़ी बनानी चाहिये आदि को क्या वह मनुष्य जान सकता है। अब मैं एक दूसरा सिद्धान्त लेता हूं। देखो ! वह अचिरा नाम की नदी दोनों किनारों के मध्य में प्रवाह से बहती है, और सामने वाले किनारे पर जिसे काम है, वह मनुष्य यदि इस किनारे पर खड़ा चिल्लाये कि 'ओ सामने वाले किनारे! इधर आओ !! ओ सामने वाले किनारे! समीप आओ !!' तो इस प्रकार हजार वार पुकारने पर भी क्या सामने का किनारा समीप आ सकता है, वा उस किनारे पर पहुंचा जा सकता है? उस किनारे पहुंचने के लिये तो उसे नाव में बैठना चाहिये और पतवार लगा कर उस ओर चलना चाहिये। इसी प्रकार यदि तीन वेदों के विद्वान् ब्राह्मण भी, सच्चे ब्राह्मणपन के गुण को छोड़ कर आलसी और मूर्ख होकर कहा करें कि हे इन्द्र ! हम तुम्हें बुलाते हैं, हे वरुण ! हम तुम्हें बुलाते हैं, तो इससे क्या लाभ है? फिर कल्पना करो कि एक मनुष्य यह जानता

है कि उस किनारे पर किस भांति जाना चाहिये, किन्तु वह इस किनारे पर इतना रीझा हुआ है अथवा उसकी विचारशक्ति माया के जाल में ऐसी जकड़ी हुई है कि वह कुछ चेष्टा नहीं कर सकता तो अब क्या वह मनुष्य सामने के किनारे पर जा सकता है? नहीं, कदापि नहीं। इसी प्रकार जो मनुष्य 'यह मेरा मित्र और यह मेरा शत्रु, यह अपना और यह पराया' इस भांति के अज्ञान की चादर ओढ़कर सोया हुआ है और जो इस दुनिया के राग-रङ्ग, पैसे-टके, स्त्री-बच्चे आदि प्रलोभनों में फंस रहा है, वह क्या सच्ची वस्तु तक पहुंच सकता है? अतएव दूसरा गुण हो न हो, किन्तु जिस में 'शील' और 'प्रज्ञा' अर्थात् सदाचार और चतुराई, केवल विद्या एवं बुद्धि नहीं, किन्तु परिपक्व ज्ञान सहित विवेक है, 'ब्राह्मण' वही है।

कल्पना करो = मानो। प्रलोभन = लुभाने वाली वस्तुएं।

६

सूत पौराणिक

वस्तुतः पुराणों में इतिहास और महापुरुषों की जीवनियां हैं। आध्यात्मिक गूढ़ तत्वों को आलङ्कारिक कथाओं के रूप में समझाया गया है, किन्तु पीछे से स्वार्थी लोगों द्वारा बहुत से क्षेपक और अनेक अप्रमाणित कथाओं का समावेश कर दिया गया है, इसलिये विवेकी जनों को हंस की भांति जल में से दूध का भाग भिन्न कर लेना चाहिये। केवल जो उत्तम-उत्तम सार की बात है, वही ग्रहण की जानी चाहिये।

गौतमबुद्ध और महावीर स्वामी ने सारे देश में फिर कर सब लोगों के अज्ञान के जालों को छिन्न भिन्न कर दिया। उस समय ब्राह्मण भी शुष्क वाद-विवाद छोड़, यज्ञ-यागादिक की उपेक्षा कर, देश के धर्म को सुधारने के लिये कटिबद्ध हो गये। प्राचीन धर्म में से जितना अंश आवश्यक लगा उतना प्रचलित रखने के लिये उन्होंने कुछ नई 'स्मृतियां' (प्राचीन वेद-काल के धर्म में से जितना याद रहा वह पुस्तकें) रचीं। उनमें समयानुकूल जो नई बात ग्रहण करने योग्य वा सुधारने योग्य लगी, उन्होंने उसे ग्रहण किया। उन्होंने प्राचीन इतिहास और कथाओं को उपयोग में ले कर उनके द्वारा लोक में धर्म का उपदेश देना आरम्भ किया।

प्राचीन-काल में ब्राह्मण और क्षत्रियों से भिन्न लोगों ने भी धर्म के उपदेश करने में जो भाग लिया था, उसे प्राचीन इतिहास में से उन्होंने खोज निकाला और सब वर्णों के लोगों के लिये नये और समयोपयोगी कुछ ग्रन्थ उन्होंने रचे। उन पुराणों और नये इतिहास और आख्यानों के ग्रन्थों में बाल्मीकि-रचित रामायण और व्यासकृत महाभारत और अठारह पुराण मुख्य हैं। जब पौराणिक काल में "द्विज" अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इनसे भिन्न शूद्रवर्ग के लोगों को वेद नहीं पढ़ाया जाता था; तब भी इन लोगों को इतिहास और पुराण सुनने का अधिकार था। वे इन पुस्तकों द्वारा ही वेद का ज्ञान प्राप्त करते थे।

इस प्रकार उस समय में भिन्न-भिन्न वर्ण के लोग एक दूसरे को उपदेश करते थे। उस समय में सूत पौराणिक हो गये हैं। वह द्विज न होते हुए भी बड़े विद्वान् थे। सब ऋषि-मुनि बैठ कर इनसे शास्त्रों की कथायें सुना करते थे।

७

भक्त ध्रुव की कथा

पौराणिक कथाओं में ध्रुव की कथा अत्यन्त ही रोचक तथा शिक्षाप्रद है। ब्रह्मा की सन्तान, स्वयंभुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र थे। राजा उत्तानपाद की दो स्त्रियां थीं सुरुचि और सुनीति। सुरुचि का पुत्र था उत्तम और सुनीति का ध्रुव। राजा उत्तानपाद सुरुचि को अधिक प्रेम करते थे, एक प्रकार से उसके अधीन थे। वे चाहते हुए भी सुनीति तथा उसके पुत्र ध्रुव पर प्रेम प्रकट नहीं कर सकते थे।

एक दिन ध्रुव ने राजा की गोद में बैठना चाहा और यह चाहा कि राजा उससे प्रेम करे, तो सुरुचि ने बाधा डाली। ध्रुव अपमानित हुआ। रोता हुआ ध्रुव मां के पास आया। मां ने कहा बेटा! संसार के प्राणीमात्र का एकमेव सहारा, उस भगवान् का आश्रय प्राप्त करो, वही सब कष्टों को दूर करेगा।

बालक ध्रुव भगवान् की खोज में वन में निकल पड़ा। रास्ते में नारदजी मिले और ध्रुव को अमृतमय उपदेश देते हुए कहा–

"यदि तुझे मानापमान का विचार हो, तो भी मनुष्य के असन्तोष का कारण मोह ही है, क्योंकि मनुष्य अपने कर्मानुसार

इस लोकमें मान-अपमान या सुख-दुःखादि भिन्न भिन्न अवस्थाओं के वशीभूत होता रहता है।

"अतएव हे तात ! दैव ने जिसके लिये जैसा विधान रच रखा है, उसके अनुसार ही वह सुख-दुःख भोगता है, इस विचार से अन्तःकरण को सन्तुष्ट रखने वाला पुरुष अज्ञान के पार हो जाता है।

"मनुष्य को चाहिये अधिक गुणवान् को देख कर प्रसन्न हो, अपने से न्यून गुण वाले को देख कर दया करे और समान गुण वाले से मित्रता का भाव रखे। ऐसा करने से वह कभी दुःखी नहीं होता।"

इन शिक्षाओं को ग्रहण कर ध्रुव पूर्वनिश्चयानुसार घन-घोर वन में तप करने को चले। ध्रुव के कठोर तप के फलस्वरूप अन्त में विश्वमें कण-कण में व्याप्त, किन्तु अदृश्य भगवान्, ध्रुव के समक्ष प्रकट हुए। ध्रुव के ज्ञान-चक्षु खुले। उन्होंने अनेक प्रणाम कर के भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने आशीर्वाद दिया।

ध्रुव का तप सफल हुआ। वे वन से राजधानी लौटे। राजा को सुरुचि के साथ-साथ अब सुनीति से भी प्रेम बढ़ा और ध्रुव का जी भरकर सत्कार किया। अन्त में राजा उत्तानपाद ध्रुव को राज्य सिंहासन सौंपकर स्वयं विरक्त हो वन को चले गये। राज्य-सिंहासन पर बैठकर ध्रुव ने बड़े प्रेम पूर्वक प्रजा का पालन किया और अनेक वर्षों तक सुखपूर्वक राज्य करते रहे।

८

शङ्कराचार्य और मण्डन मिश्र

अब से अनुमानतः अढ़ाई सहस्र वर्ष पहले, जब इस देश में अधिकांश मनुष्य अन्धश्रद्धालु होने लग गये थे, तब भगवान् गौतम ने निम्नलिखित उपदेश का जगत् में प्रचार किया था— "यह संसार क्षणभंगुर और मिथ्या है, यज्ञ-यागादिक करना व्यर्थ है, किन्तु हमारे हृदय में सांसारिक वासनाओं की जड़ जम रही है, उसका समूल नाश होना चाहिये। अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाता है, वैसे अपने इस अहंकार का निःशेष होना—इसका ही नाम परमानन्द, निर्वाण या मोक्ष है, और यही उत्तम स्थिति है। निर्वाण का अर्थ, तृष्णा और अहंकार का नाश है। फिर परमेश्वर को किसी ने देखा नहीं, इसलिये इस जगत् को किसने उत्पन्न किया होगा, इस प्रकार का तर्क-वितर्क भी निरर्थक है।" बुद्धदेव के इस उपदेश से हजारों स्त्री-पुरुष संसार छोड़ भिक्षु और भिक्षुणी बन गये, वेद-धर्म की क्रियाओं पर से लोगों की श्रद्धा विचलित होने लगी। उस समय ब्राह्मणों ने पुराने शास्त्रों को नवीन रूप देकर और लोगों में जिससे भक्ति के साथ धार्मिकभाव चढ़े, उस प्रकारकी परमेश्वर की भक्ति के उपदेश चारों ओर फैलाकर

वेद-धर्म को फिर जागृत किया। फिर कुछ समय बीतने पर साधारण लोग कर्मकाण्ड में फंस गये और अज्ञानवश एक अद्वितीय परमात्मा के ज्ञान की उपेक्षा कर अनेक देवताओं की उपासना करने लगे। किन्तु परमेश्वर है, वह एक है, और उसका ज्ञान ही मुक्ति का सच्चा साधन है, इस सिद्धान्त को पुनर्जीवित करनेवाले महात्मा की आवश्यकता थी। ऐसे महात्माने दक्षिण के केरल देश में, मालाबार के किनारे, आठवें शतक के लगभग जन्म लिया।

बाल्यावस्था से ही उनका मन संसार छोड़ कर परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने और उस ज्ञान का सर्वत्र उपदेश करने की ओर था, किन्तु वे अपनी प्रेमाकुलित विधवा माता के निमित्त कुछ काल तक जगत् के व्यवहार में लगे रहे। यह किंवदन्ती है कि एक समय वे नदी पर नहाने गये और वहाँ पानी में मगर ने उनका पैर पकड़ लिया, यह देख उनकी माता घबरा कर चिल्ला उठी, तब शङ्कराचार्य ने कहा, "माता जी ! यदि तुम मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दो तो यह मगर मेरा पैर छोड़ देगा।" इस बात का तात्पर्य यह है कि इस संसार रूपी नदी में हमें विषयरूप मगर पकड़े हुए हैं, जिनके मुख से छुड़ाने के लिए वैराग्य और संन्यास आवश्यक है। शङ्कराचार्य ने संन्यास तो लिया, किन्तु उनके हृदय में दया थी, इस लिये अपनी प्रेमाकुल माता के स्मरण करने पर उनके पास आना उन्होंने स्वीकृत किया। इस प्रतिज्ञानुसार अपनी माता के मरण के समय जब उनके बन्धु-बान्धव

द्वेष से उन का अग्निदाह भी करने के लिये न आये, तब शङ्कराचार्य्य ने स्वयं संन्यासी होने के कारण, क्रिया करने का निषेध होते हुए भी, मातृभक्ति से अग्निदाह किया।

उस समय मंडन मिश्र नामक वैदिक धर्म के एक बड़े कर्ममार्गी विद्वान् थे। उन के पांडित्य की कीर्ति चारों ओर छा रही थी। उन को परास्त किये बिना कर्ममार्ग के स्थान में ज्ञान मार्ग चलाना असम्भव था। इस कारण शङ्कराचार्य फिरते-फिरते मंडनमिश्र के गाँव में आये। गाँव के बाहर पनिहारियों पानी भर रही थीं, उन से उन्होंने पूछा—'माइयों! इस गाँव में मंडन मिश्र का घर कहाँ है, बतलाओ?' पनिहारियों ने कहा—'महाराज! सीधे चले जाओ और जिस घर के आँगन में पिंजरे में बैठे तोते और मैना वेद और ईश्वर-सम्बन्धी विवाद करते हों, वही मंडन मिश्र का घर है।' मंडनमिश्र के यहाँ सैंकड़ों विद्यार्थी इस विषय की रात-दिन चर्चा करते थे, इस कारण उनके पाले हुए पक्षियों को भी अभ्यास हो गया था। इस पते से शङ्कर जो मंडनमिश्र के घर पहुंचे और उस कर्म-मार्ग के विद्वान् को ज्ञानमार्ग का उपदेश करना आरम्भ किया। इस विषय में दोनों महाविद्वानों का घोर वादानुवाद चला। शास्त्रार्थ में कौन जीतेगा, यह कौन कह सकता था?

मंडनमिश्र की स्त्री जो अपनी विद्वत्ता के कारण सरस्वती का अवतार मानी जाती थी, स्वयं मध्यस्थ बनाई गयीं और यदि

शङ्कर की विजय हो तो मण्डनमिश्र संन्यास लें—यह निश्चय हुआ। वाद-विवाद में जब शङ्कर की विजय प्रतीत होने लगी, तब सरस्वती बड़े सङ्कट में आ पड़ी, एक ओर शङ्कराचार्य का पक्ष सत्य है, यही उसके हृदय से अन्तर्ध्वनि होती थी, दूसरी ओर अपने पति को अपने मुख से परास्त कहने का साहस 'कैसे हो सकता था, इस धर्म-संकट में सरस्वती ने दोनों के कंठ में जयमाला पहनाई और कहा कि जिसके कण्ठ की माला सूख जायगी, वह शास्त्रार्थ में पराजित हुआ समझा जायगा। मण्डन मिश्र की माला सूख गयी, वे हार गये और संन्यासी हुए। शङ्कराचार्य के शिष्यों में संन्यास लेने के पश्चात् उनका नाम सुरेश्वराचार्य हुआ। फिर शङ्कर ने हिन्दुस्तान में स्थान-स्थान पर फिर कर परामात्मा के ज्ञान का उपदेश किया और उपदेश की रक्षा के लिये चारों दिशाओं में चार गद्दियां स्थापित कीं। बत्तीस वर्ष की अवस्था में ये महात्मा विदेह कहे जाते थे। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह संसार का नियम है कि मनुष्यों का चित प्रायः रजोगुण और तमोगुण की ओर झुकता रहता है, जिसका फल यह होता है कि अज्ञान और प्रमाद के कारण कभी नास्तिक और अन्धश्रद्धादि दुर्गुण मनुष्यों में आ घुसते हैं। इसलिये उनको सुमार्ग में लाने के लिये समय-समय पर महात्माओं को देशकालानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के उपदेश देने पड़ते हैं। यह उपदेश कभी कर्मप्रधान होते हैं और

कभी भक्ति-प्रधान और कभी निवृत्ति-प्रधान तथा कभी प्रवृत्ति-प्रधान होते हैं। किन्तु उन उपदेशों में मूलतः वेद-उपनिषदादि प्राचीन शास्त्रों के तत्वों की ही प्रधानता रहती है।

क्षणभंगुर = नाशवान । निःशेष = शेष न रहना ।
परास्त = पराजित, हारना । किंवदन्ती=लोग कहते हैं, जनश्रुति ।

६

रामानन्द और उनके शिष्य

शंकराचार्य के पश्चात् रामानुज नामक एक आचार्य हुए। उन्होंने ज्ञान के साथ कर्म और भक्ति का सम्बन्ध घनिष्ठ और आवश्यक बतलाया। उनकी शिष्य-परम्परा में डेढ़ सौ वर्ष व्यतीत होने पर रामानन्द हुए। उन्हें रामानुजाचार्य के सम्प्रदाय में खान-पान और जाति-पांति के जो बहुत भेद हो गये थे, वे उचित न लगे। अतएव उन्होंने काशी जाकर एक भिन्न मठ स्थापित किया। वे राम के भक्त थे। भक्ति और ज्ञान यही परमेश्वर की प्राप्ति के सच्चे साधन हैं—यह इनका उपदेश था। हिन्दुस्थान में धर्म का उपदेश सस्कृत के बदले देश की प्रचलित भाषा में—अर्थात् अशिक्षित लोग भी समझ सकें उस भाषा में भली भांति

होने लगा। चारों ओर भक्त और साधुजन उत्पन्न हुए। एक बार रामानन्द जी दक्षिण की यात्रा में जा रहे थे; वहाँ मार्ग में एक गाँव के पास उन्होंने विश्राम किया। गाँव के बहुत से स्त्री-पुरुष उनकी कीर्ति सुन, उनके दर्शन और सत्कार करने आये। उनमें एक स्त्री थी। उसकी सेवा से प्रसन्न हो रामानन्द ने उसे आशीर्वाद दिया कि—"पुत्रवती हो!" पर उस स्त्री का पति तो काशी जाकर उनका स्वयं ही शिष्य होकर संन्यासी होने गया था। इस बात का जब उन्हें परिचय मिला, तभी वे काशी लौट आये और अपने शिष्य संन्यासी से पूछा, "संन्यासी होने से पहले क्या तुमने अपनी स्त्री से आज्ञा ली थी?" उसने उत्तर दिया, 'नहीं'। रामानन्द ने तुरन्त उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने और घर में रहकर परमेश्वर की भक्ति करने का उपदेश दिया। उस शिष्यने गुरु की आज्ञानुसार घरमें पुनः प्रवेश किया। उसके पुत्र एक बड़े मराठी ग्रन्थकर्ता और साधु हुए।

यह कहा जाता है कि रामानन्द सदा सूर्योदय के पहले गंगा स्नान के लिये जाया करते थे। एक बार उनके मार्ग में पड़े हुए एक मनुष्य पर उनका पैर पड़ गया। इस घटना से दुखित होने के कारण उनके मुख से सहसा "राम! राम!" ये शब्द निकले। उस पददलित मनुष्य के लिये यह उद्‌गार रामनाम का मन्त्र हो गया और रामानन्द उसके गुरू हुए। यह मनुष्य हिन्दुस्थान का प्रसिद्ध ज्ञानी साधु कबीर था जो जाति का जुलाहा था।

रामानन्द की ही शिष्य-परम्परा में मीराबाई, तुलसीदास आदि हुए। तुलसीदासकृत रामायण समस्त हिन्दुस्थान में घर-घर प्रेम से गाई जाती है।

भाषा शाखा है सही, संस्कृत सोही मूल।
मूल रहत है धूल में, शाखा में फल फूल ॥

पददलित=पैर से पिचा हुआ। *उद्‌गार*=अचानक बोले हुए शब्द।

१०

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है

गुरु जी विद्यार्थियों को सैर कराने के लिये गाँव के बाहर ले जाते हैं। यह सावन का महीना है। रात को मेह बरसने से जङ्गल की झाड़ियां उदय होते हुए सूर्य के प्रकाश में हरी-हरी दीख पड़ती हैं। आस-पास के खेतों में बाजरे के डंठल निकल आये हैं। चारों ओर सृष्टि-सौन्दर्य और प्रभु की महिमा के सिवा और कुछ नहीं दीखता। ऐसे ही समय में और ऐसे ही स्थल में बालकों को धर्म का शिक्षण करना चाहिये। गुरु जी ऐसे प्रसङ्ग पर कभी न चूक सकते थे। खेत की मेंड़ के पास ऊंची भूमि थी

जहाँ सब खड़े हो गये। एक विद्यार्थी चारों ओर दृष्टि फेर कर स्वाभाविक रीति से बोल उठा "अहा! यह सारा कैसा सुन्दर दृश्य है!" सब के हृदय आनन्द से उछलने लगे, सब ने हृदय से ईश्वर को नमस्कार किया। गुरु ने धर्म-शिक्षण का काम आरम्भ किया।

गुरुजी—बालकों! आज से हम हिन्दू-धर्म के तत्वों के विषय में बातचीत शुरू करेंगे और इसमें हमारा पहला विषय ईश्वर होगा। कारण कि ईश्वर पर, और उस ईश्वर को हम कैसा मानते हैं, इस पर ही हमारे धर्म का और उसके स्वरूप का आधार है।

उपनिषद् में ईश्वर की व्याख्या इस प्रकार से की गई है:—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते
येन जातानि जीवन्ति
यत्प्रयन्त्यभिसम्विशन्तीति तद्विजिज्ञासस्व ॥

—*तैत्तरीयोपनिषद्*

"जिसमें से ये समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिस के द्वारा उत्पन्न होकर यह जीवित रहते हैं, जिसके प्रति ये जीते हैं, जिसमें इन का प्रवेश होता है, वही ईश्वर है।"

ये चन्द्र, सूर्य, तारागण उस के ही तेज से प्रकाशमान हैं। हरेक पदार्थ अपने-अपने स्थान में रह कर अपना कार्य कर रहा

है। यह रचना, यह प्रताप परमेश्वर का ही है। परन्तु इस विश्व के तरह-तरह के पदार्थों में वह भांति-भांति के रूप से दिखाई देता है। देखो, इस पृथ्वी में हम बीज बोते हैं, वर्षा का पानी उसे सींचता है, सूरज गर्मी देता है, तत्पश्चात् उस पर ऋतुओं की वायु चलती है। फिर बीज में अंकुर उत्पन्न होता है, अंकुर में डंठल उगते हैं, यह सब कौन करता है ?

हरिलाल—ईश्वर करता है।

मतिलाल—गुरु जी महाराज ! क्या यह नहीं कह सकते कि इस पृथ्वी को सूर्य, पवन आदि हरा-भरा करते हैं ?

गुरुजी—ऐसा कह सकते हैं, किन्तु इन सब पदार्थों में जो शक्ति है, वह ईश्वर की है। परमात्मा के बिना ये पदार्थ कुछ भी नहीं कर सकते। इन पदार्थों को और इनमें बसने वाली ईश्वर की शक्तियों को 'देव' कहा करते थे। ईश्वर तो सब देवताओं का देवता है, सब शक्तियों की शक्ति है। इस बात पर एक छोटी सी कथा सुनाई जाती है। पूर्व समय में दैत्यों और देवों का युद्ध हुआ, उसमें अपने परमाराध्य देव ईश्वर के बल-भरोसे पर देवता लोग जीत गए। वास्तव में यह ईश्वर की ही जीत थी, किन्तु देवता लोग तुच्छ अभिमान से फूल गये और यह मानने लगे कि यह हमारी ही जीत है—हमारी ही महिमा है। ईश्वर इसे जान गए और एक यक्ष का रूप धारण कर सामने आ खड़े हुए। देवता लोगों ने उन्हें पहचाना नहीं। ये परस्पर विचार करने लगे कि यह

कौन होगा ! किसी को कुछ न सूझ पड़ा। फिर उन्होंने अपने में एक अग्निदेव से कहा—'अग्निदेव ! तुम जाओ, तुम तीनों लोकों को जानते हो, तुम निश्चय करो कि यह कौन है ?' अग्नि-देव ने कहा—'अच्छा !' फिर अग्निदेव उस यक्ष रूपधारी ईश्वर के समीप गये। यक्ष ने उससे पूछा, 'तुम कौन हो ?' अग्निदेव ने जवाब दिया—'मैं अग्नि हूँ।' यक्ष ने पूछा, 'तुझ में क्या शक्ति है ?' अग्नि ने उत्तर दिया, 'मुझमें तो ऐसी शक्ति है कि मैं यह जो कुछ पृथ्वी पर दीख पड़ता है, इन सब को जलाकर भस्म कर सकता हूँ।' यक्ष ने उसके पास तृण रखकर कहा, इसे 'जलाओ !' अग्निदेव इस तिनके पर अपने भरसक बल से दौड़े, किन्तु इतने से तिनके को वह न जला सके। अग्निदेव हार मान कर वहाँ से लौटे और देवताओं के पास जाकर कहा, 'यह यक्ष कौन है, इसे मैं न जान सका।' फिर देवताओं ने वायु देव से कहा, वायुदेव ! तुम जाकर निश्चय करो कि यह यक्ष कौन है।' वायु-देव ने कहा, 'अच्छा !' वायुदेव उस यक्ष के पास गये। यक्ष ने पूछा, 'तुम कौन हो ?' वायुदेव ने जवाब दिया, 'मैं वायु हूँ।' यक्ष ने पूछा, 'कहो तुम में क्या शक्ति है ?' वायुदेव ने उत्तर दिया कि मैं पृथ्वी पर की सभी वस्तुओं को खींच कर ले जा सकता हूँ। यक्ष ने उसके पास तिनका रख कर कहा, 'लो इसे खींच ले जाओ !' वायुदेव उस पर बड़े वेग से झपटे, किन्तु इतने से तिनके को वह न उड़ा सके। वायुदेव लौटे और देवताओं से जाकर कहा, 'यह यक्ष कौन है, इसे मैं न जान सका।'

फिर देवताओं ने इन्द्र से कहा, 'इन्द्र महाराज ! तुम जाओ और यक्ष का पता लगाओ !' इन्द्र ने कहा; 'अच्छा !' इन्द्र उस यक्ष की तरफ दौड़े, किन्तु वह यक्ष अन्तर्धान हो गया, और जहाँ यक्ष खड़ा था, वहाँ एक स्त्री खड़ी हुई दीख पड़ी। इस का नाम उमा था और वह बहुत रूपवती थी। इन्द्र ने उस से पूछा, 'यह जो यक्ष खड़ा था वह कौन था ?' उसने कहा, 'वह स्वयं ईश्वर था उस ईश्वर की जय से ही तुम्हारी जय है, उसकी महिमा से ही तुम्हारी महिमा है।' इन्द्र ने ईश्वर को जान कर देवताओं से उस बात को कहा।

इस प्रकार गुरुजी ने बालकों से एक प्राचीन कथा कही और पूछा, 'बालकों ! इस कथा से तुम क्या समझे ?' बालकों में से बसन्त लाल ने उत्तर दिया, 'ईश्वर ही सर्वशक्तिमान है, अग्नि, वायु आदि इस जगत् में जो-जो बलवान् पदार्थ दीख पड़ते हैं, वे सब ईश्वर ही की शक्ति से अपना काम करते हैं।'

गुरुजी—ठीक, कहो अब किसी को और पूछना है ?

मतिलाल—गुरुजी महाराज ! ये सब पदार्थ किस में से उत्पन्न हुए होंगे ?

गुरुजी—तुम्हारा सवाल अच्छा है, किन्तु उस का जवाब देने के लिए पर्याप्त समय नहीं रहा इसलिए इस सवाल को हम कल ले सकेंगे।

अन्तर्धान = लोप हो जाना, अदृश्य हो जाना।
महिमा = महत्व।

उमा = इस विश्व में दिखाई देने वाली ईश्वर की सुन्दर शक्ति।
सृष्टि-सौन्दर्य = प्रकृति की सुन्दरता ।
धर्म-शिक्षण = धर्म का उपदेश ।
देव = चमकती हुई ईश्वर की शक्ति ।
यक्ष – मनुष्य और देवताओं के बीच की श्रेणी के जीव ।

११

सारे पदार्थ ईश्वर के ही रूप हैं ।

आज एक बड़े बरगद के वृक्ष के नीचे धर्म के शिक्षण के लिए कक्षा बैठी है । प्राचीन काल में जब ऋषि लोग आश्रम बना कर रहते और सैकड़ों विद्यार्थियों को अपने आश्रम में बसाते, पालते और विद्या पढ़ाते थे, तब बहुत वार ऐसे किसी वृक्ष के नीचे गुरु-शिष्य की मण्डली बैठा करती थी और उन के बीच में सवाल-जबाब चलते थे ।

गुरुजी—कल मतिलाल का क्या प्रश्न था ?

मतिलाल—परमेश्वर की शक्तिसे यह समस्त विश्व चलता है, पर इस जगत् को परमेश्वर ने किस वस्तु में से पैदा किया ?

गुरूजी—अपने में से। उसे जगत् की सृष्टि के लिए बाहर कुछ भी लेने नहीं जाना पड़ता है। घर बनाने वाले को पत्थर मिट्टी, लकड़ी आदि लेने जाना पड़ता है, क्योंकि ऐसे काम के लिये परमेश्वर ने जो साधन रखे हैं, उनका ही केवल उपयोग वह कर सकता है। उसकी शक्ति परमेश्वर जैसी अनन्त अप्रमेय नहीं कि उसे बाहर के साधनों की आवश्यकता न हो, किन्तु परमेश्वर तो अतुल शक्तिशाली होने से सब कुछ अपने में से उत्पन्न कर सकता है। इस प्रसङ्ग के अनुसार एक प्राचीन पुस्तक में से कथा कही जाती है, उसे सुनिये।

पूर्व काल में ऐसे ही एक बरगद के नीचे उद्दालक नामक ब्राह्मण कुटी बना कर रहता था। ब्राह्मण विद्वान् था, पर उस के लड़के का जी पढ़ने में न लगता था। आठवें वर्ष उसका जनेऊ हुआ। जनेऊ होते ही तुरन्त गुरु के घर जा कर विद्या पढ़ना यह अपना पुराना रिवाज था। किन्तु यह लड़का बारह वर्ष का होने तक भी गुरु के घर न गया। एक दिन पिता ने खिन्न होकर श्वेतकेतु (उस बालक का नाम था) को अपने सामने बिठाकर कहा—"भाई, अब तक हमारे कुल में कोई भी बिना पढ़ा-लिखा नहीं रहा, केवल ब्राह्मण जाति का होने के कारण ही ब्राह्मण कहा जाय, ऐसा कोई भी हमारे कुल में नहीं हुआ। तू बड़ा हुआ, बारह वर्ष का हुआ, अब तो तू गुरु के घर जाकर विद्या पढ़ आवे तो अच्छा हो।' इन कोमल, किन्तु प्रभावशाली शब्दों से उस बालक के मन पर बहुत असर हुआ और वह गुरु के पास विद्या

पढ़ने परदेश गया। बारह से चौबीस वर्ष तक गुरु के घर रहा और अनेक तरह की विद्या उन से भली भांति सीखी। जब वह विद्या पढ़ कर घर आया, तब श्वेतकेतु तो मानों पहले का श्वेतकेतु ही न रहा। पहले वह अनपढ़ और झगड़ालू था, पर अभिमानी न था। इसके बदले वह अब विद्वान्, गम्भीर, किन्तु अभिमानी हो गया। पिता ने देखा कि लड़का कितनी ही विद्याओं में निपुण तो हो गया है, पर उसे अभी सच्चे धर्म का—ईश्वरके ज्ञान का—शिक्षण नहीं मिला। इसलिये पिता ने उसे पास बिठा कर पूछा "श्वेतकेतु! तेरी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण हो गई है, तू विद्या पढ़ने का अभिमान भी बहुत रखता है और घमण्डी भी प्रतीत होता है। देख, मैं तुझसे एक प्रश्न पूछता हूँ, जिसका उत्तर दे। तूने कभी अपने गुरु से प्रश्न किया कि 'गुरुजी! ऐसा कौन पदार्थ है कि एकमात्र जिसके जानने से सब कुछ जाना जा सके?' श्वेतकेतु ने जवाब दिया, 'पिता जी! एक के जानने से यह सब कुछ किस रीति से जाना जा सकता है!' पिता ने कहा, 'देखो भाई, मिट्टी है। इस एक मिट्टी को यदि पूर्ण रूप से जान लें तो मिट्टी के जो जो पदार्थ होते हैं—घड़ा, दीवा, ईटें इत्यादि—इन सब को हम जान सकते हैं। कारण यह कि मिट्टी के बने हुए सारे पदार्थ भिन्न-भिन्न नाममात्र हैं, खरी वस्तु तो मिट्टी ही है। इस प्रकार भाई, लोहा क्या वस्तु है, यदि हम ठीक समझ लें तो लोहे के बने हुए पदार्थ हमारी समझ में आ जायेंगे। कारण कि लोहे के

भिन्न-भिन्न पदार्थ तो नाममात्र ही हैं, खरी वस्तु तो लोहा ही है।

श्वेतकेतु—"पिताजी ! मेरे गुरुओं ने तो ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं बतलाया कि जिस के जानने से सब कुछ जाना जा सके। मुझे मालूम होता है कि उस वस्तु को गुरुजन स्वयं न जानते होंगे। यदि वे जानते होते तो मुझ से क्यों न कहते ? अतएव, पिताजी, आप ही मुझको बतलाइये।" पिता ने कहा, "यह पदार्थ तो परमेश्वर ही है। जैसे मिट्टी का घड़ा, सोने के आभूषण, लोहे की छुरी, तलवार इत्यादि—वैसे ही ये सब पदार्थ परमेश्वर के बने हुए हैं। परमेश्वर की इच्छा हुई कि मैं एक हूँ और बहुत हो जाऊँ और इस प्रकार इच्छा कर उसने स्वयं तेज, जल आदि रूप धारण किये—और यह सृष्टि हुई।" फिर पिता ने पुत्र को परमेश्वर-सम्बन्धी विशेष ज्ञान दिया। कोरी विद्या पढ़कर पुत्र अभिमानी हो गया था, पर परमेश्वर-सम्बन्धी ज्ञान से वह नम्र बना और उसने सच्ची जानने योग्य वस्तु को पहचाना।

कक्षा = श्रेणी, वर्ग।

अप्रमेय = जो मापा न जा सके।

❀

१२

ईश्वर की सत्ता जगत् के भीतर और बाहर भी है।

दूसरे दिन भी उसी झाड़ के नीचे धर्म-शिक्षण की कक्षा बैठी। झाड़ की छाया घनी थी और पवन भी धीरे-धीरे चलता था। अतः वह स्थान खुली हवा में बैठ कर काम करने के लिये अच्छा था। इस के अतिरिक्त हमारे ऋषि-लोग प्राचीन काल में ऐसे ही झाड़ों के नीचे बैठकर परमेश्वर-सम्बन्धी विचार किया करते थे, यह जानकर लड़कों को यह स्थान विशेष प्रिय लगने लगा।

बालक—गुरुजी! क्या हम आज भी कल के वरगद के पास न जायेंगे?

गुरु जी—चलो, तुम्हारा मन यदि वहाँ जाने का है तो वैसा ही करो।

सभी बट की छाया में जा बैठे। जैसे ईश्वर में से यह समस्त सृष्टि फैलती है, वैसे ही बट में से छोटे-छोटे बट वृक्ष निकले हुए थे। बट पर बहुत से फल भी निकल रहे थे, जिन्हें असंख्य पक्षी बैठे खा रहे थे, और बड़ के नीचे भी पवन और पक्षियों से गिराये हुए सैंकड़ों फल बिखरे हुए थे।

ईश्वर की सत्ता जगत् के भीतर और बाहर भी है

गुरुजी—कल की बातों में से किसी को कुछ पूछना हो तो पूछो।

मतिलाल—गुरुजी ! श्वेतकेतु के पिता के कथनानुसार यदि ये सब पदार्थ परमेश्वर के ही बने हुए हों, तो ये पदार्थ ही परमेश्वर हैं।

गुरुजी—नहीं, ऐसा नहीं। ये पदार्थ परमेश्वर के रूप तो हैं, किन्तु ये पदार्थ परमेश्वर नहीं। जो इस पृथ्वी में रहता है, किन्तु जिसे पृथ्वी जानती नहीं, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो पृथ्वी के अन्दर रहकर इसे चलाता है, वही परमेश्वर है। जो जल में रहता है, जो वायु में रहता है, जो चन्द्र-सूर्य-तारे, पशु-पक्षी-मनुष्य इत्यादि ब्रह्माण्ड में भरपूर इन असंख्य पदार्थों में रहता है, किन्तु ये पदार्थ जिसे जानते नहीं—ये पदार्थ जिसके शरीर हैं, इन पदार्थों के भीतर रहकर इन्हें जो चलाता है—वही परमेश्वर है।

तथापि मैंने जो मिट्टी और मिट्टी के बासन का दृष्टान्त दिया था, उसे सुनकर तुम्हें जो शङ्का हुई, वह उचित ही है। श्वेतकेतु को भी कदाचित् यही शङ्का हुई होगी। अतएव उसके पिता ने दूसरा दृष्टान्त देकर वह शङ्का दूर की, वैसे मुझे भी करना उचित है। बालकों ! बड़ का फल ले आओ, (एक ले आया) और टुकड़े करो। टुकड़े करके देखो उसमें क्या है ? (एक ने उसे तोड़ा और सब इकट्ठे होकर भीतर देखने लगे, उसमें छोटे-छोटे दाने दीख पड़े)।

बालकों ने गुरु जी से कहा—"गुरुजी ! इस में तो छोटे छोटे दाने दीख पड़ते हैं।" गुरु जी बोले—"अच्छा, अब उनमें से एक छोटा दाना लेकर टुकड़े करो और देखो उस में क्या दिखाई देता है ?" बालकों ने एक दाना लेकर तोड़ा और देखा किन्तु वह इतना सूक्ष्म था कि कुछ भी न दिखाई दिया। फिर बालक बोले--"गुरु जी ! इस के भाग करने से तो कुछ नहीं दीख पड़ता।" गुरुजी बोले—"यह समझलो कि जिसके विषय में तुम ऐसा कहते हो कि कुछ नहीं दीख पड़ता, उसमें ही पूरा बड़ का झाड़ समा रहा है। इसी प्रकार इस जगत् के अन्दर रहता हुआ भी जो देख नहीं पड़ता, उसमें ही यह जगत् समा रहा है और उसमें ही से वह निकला है।"

हरिलाल—पहिले से ही यदि पिता ने मिट्टी और घड़े के दृष्टान्त देने के बदले यह बड़ का दृष्टान्त दिया होता तो कितना अच्छा होता !

गुरुजी—मिट्टी और घड़े का, सोने और सोने के आभूषणों का, लोहे और लोहे के शस्त्रों के दृष्टान्त देने का अभिप्राय यह है कि उन-उन वस्तुओं की बनी हुई चीजों को चाहे जितना तोड़ो-फोड़ो तो भी जिन पदार्थों से वह बनी हैं, वे पदार्थ तो हमेशा बने रहेंगे। घड़ा फूट जायगा, पर मिट्टी नहीं फूटेगी। आभूषण टूट जायेंगे किन्तु सोना ज्यों-का-त्यों रहेगा। इसी प्रकार से यह जगत् परमेश्वर का बना हुआ है और यदि इसके टुकड़े-टुकड़े भी

हो जायें तो भी परमेश्वर का नाश न होगा। किन्तु यदि यह बड़ सूख जाय वा जल जाय तो इसके बीज न रहेंगे।

किन्तु, बड़ और बीज के दृष्टान्त में इतनी ही कमी है कि ये बीज और बड़ अलग किये जा सकते हैं, किन्तु इस प्रकार परमेश्वर और सृष्टि को एक दूसरे से भिन्न नहीं किया जा सकता।

हरिलाल—इस दृष्टान्त में एक कमी, दूसरे में दूसरी कमी, क्या खूब!

गुरुजी—ठीक, कोई भी दृष्टान्त परमेश्वर के विषय में पूर्ण रूप से लागू नहीं होता, यह इस बात से मालूम होता है। हम जो दृष्टान्त लेते हैं, वे उसके स्वरूप को कुछ-कुछ जैसे-तैसे समझाने के लिए पर्याप्त होते हैं।

शङ्का = सन्देह। *ब्रह्माण्ड = विश्व जगत्।*
दृष्टान्त = उदाहरण। *सूक्ष्म = बारीक, अति छोटा।*

卐

१३

ईश्वर देखने में नहीं आता पर वह अनुभवगम्य है।

बालक—गुरुजी ! ईश्वर देख नहीं पड़ता, तो भला वह कहाँ रहता होगा ?

गुरुजी—इस जगत् के कण-कण में व्याप्त है। इस बात को श्वेतकेतु के पिता ने श्वेतकेतु को एक अच्छे दृष्टान्त द्वारा समझाया था। पिता ने कहा–भाई, उस पानी में एक नमक की डली डालो और प्रातःकाल उसे मेरे पास ले आओ।

श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया और दूसरे दिन सुबह नमक के पानी का प्याला लेकर पिता के पास गया। पिता ने कहा—"श्वेतकेतु ! जिस नमक की डली को तुमने पानी में डाला है, उसे लाओ।" श्वेतकेतु ने पानी में हाथ डाल कर देखा, किन्तु वह डली न मिली, क्योंकि वह बिल्कुल गल गई थी, इसलिये उसने कहा—"पिता जी वह नहीं है।" पिता—'अब तुम इस पानी को ऊपर से चखो और कहो कैसा लगता है ?" श्वेतकेतु ने चखकर कहा कि खारा है। पिता—"बीच में से आचमनी डालकर निकालो और चखकर इसका स्वाद बतलाओ।"

श्वेतकेतु ने इसे भी खारा ही बताया। पिता ने फिर पूछा—'नीचे से चखकर इसका स्वाद बतलाओ।' फिर भी उसने खारा ही कहा। पिता—'उस नमक को निकाल कर मेरे पास लाओ।' श्वेतकेतु—'वह कैसे निकल सकता है, वह तो पानी में नित्य घुला ही हुआ रहेगा।' पिता—'तो इसी प्रकार समझो कि परमेश्वर यहीं है, तथापि तुम यह देख नहीं सकते कि वह यहीं है। केवल चखने ही से, उसके रस लेने ही से वह मालूम होता है। अर्थात् परमेश्वर आँख से देखने में नहीं आता, पर उसका अनुभव हो सकता है और इस रीति से वह है—यह हमें निश्चय हो जाता है।'

मणिलाल—गुरुजी! इस बात में नमक के बदले शक्कर कहा होता तो कैसा अच्छा होता!

गुरुजी—बहुत ठीक! परमेश्वर शक्कर जैसा मीठा है, पर तुम्हीं कहो कि शक्कर की अपेक्षा क्या नमक कुछ कम स्वादिष्ट है?

मणिलाल गुरुजी का कहना समझ गया और निरुत्तर होकर कहने लगा—'गुरुजी! नमक बिना तो सारी रसोई फीकी लगती है और मिठाई बिना तो काम चल भी सकता है।'

❀

१४

ईश्वर एक है अथवा अनेक ?

गुरुजी—बालकों ! आज तक तुम हिन्दु धर्म के शास्त्रानुसार ईश्वर के सम्बन्ध में इतनी बातें जान चुके हो—

(१) इस विश्व में सारी शक्ति केवल ईश्वर ही की है—यक्ष और देवताओं की बात याद करो, जिसका पीछे वर्णन किया गया है।

(२) सब कुछ उसी से बना है, उससे ही स्थित है और अन्त में उसी में समा जाता है, जैसे मिट्टी और घड़ा, सोना और गहना।

(३) किन्तु जो पदार्थ दीखते हैं, वे ईश्वर नहीं। वह तो इन पदार्थों के अन्दर व्याप्त है। पर वह दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे बड़ के पेड़ के सूक्ष्म बीज।

(४) यद्यपि इस दृष्टि से तो वह देखा नहीं जाता, किन्तु यदि चाहें तो उस वस्तु का रसास्वादन किया जा सकता है, जैसे जल में मिश्रित नमक वा शक्कर का।

अब कहो, ईश्वर के विषय में क्या जानना चाहते हो ?

रमाकान्त—गुरूजी महाराज ! ईश्वर एक है अथवा अनेक ?

ईश्वर एक है अथवा अनेक ?

गुरुजी—ईश्वर एक है। यह सारा विश्व एक है, इसके सब पदार्थ इकट्ठे रहते हैं-दूसरे के साथ गुथे हुए हैं और एक ही रचना के अङ्ग हैं। देखो ! इस सरोवर में एक कङ्कड़ डालो, पानी की कैसी लहरें उठती दीखती हैं ! एक जगह पानी हिलता है, किन्तु उस हलचल का प्रभाव सारे सरोवर में फैल जाता है। तुम ने बड़े शहरों में एकाध कपड़े बनाने का कारखाना तो देखा ही होगा। न देखा हो तो यह नन्हीं सी घड़ी देखो। इसमें चक्र कैसे एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं—एक फिरता है तो दूसरा फिरता है, दूसरा फिरता है तो तीसरा फिरता है। इस प्रकार इस विश्व को भी समझना चाहिये। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी एक दूसरे से लाखों और करोड़ों योजन दूर हैं, तथापि ये सब एक ही घड़ी के चक्र हैं, और इस कारण इन सब का रचने वाला एक ही होना चाहिये। एक न हो तो इन के बीच कितनी गड़बड़ मच जाय ? अभी यह सब चक्र तो फिरते हुए देख पड़ते हैं, तो भी इनको एक-दूसरे से अलग कर सकते हो। किन्तु अपने शरीर के जो अवयव हैं, उनका काम एक-दूसरे से अति भिन्न है, तो भी वे एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। सब मिल कर एक ही काम करते हैं। सभी मनुष्य के जीवन की सेवा कर रहे हैं। वे किसके द्वारा ऐसा करते हैं ? जैसे अपने शरीर के अवयव इकट्ठे रखकर चलाने वाली एक आत्मा है, वैसे ही यह विश्व और इसमें विराजमान परमात्मा है।

इस कारण हिन्दू-धर्म के शास्त्रों ने विश्व को परमेश्वर का शरीर बतलाया है और परमेश्वर उसके अन्दर बसने वाला जीवन कहा गया है। उस महान पुरुष के हजारों मस्तक, हजारों आंखें और हजारों पैर हैं। यदि दूसरे प्रकार से यह बात कहें तो यह आकाश उसका सिर है, ये चन्द्र-सूर्य उसकी आँखें हैं, यह वायु उसका श्वासोच्छ्वास है, इत्यादि।

रमाकान्त—तब तो परमेश्वर बड़े दैत्य के सदृश हुआ ?

गुरुजी—नहीं, परमेश्वर बड़ा है, किन्तु वह दैत्य जैसा नहीं। मैंने तुमसे कुछ दिन पहले जो कुछ कहा था, वह तुम भूल गये। परमेश्वर का वर्णन करने के लिये हम जितने दृष्टान्त लेते हैं उतने अधूरे हैं। हमने इस विश्व को परमेश्वर का शरीर और परमेश्वर का इसमें बसने वाला जीव बतलाया, इसका अर्थ यह है कि इस अखिल विश्व में बसने वाला परमेश्वर एक है, वह सब पदार्थों को इकट्ठा रख, सब के अन्दर रहकर सब का सञ्चालन करता है। जैसे हमारे शरीर में जीव है, वैसे ही परमेश्वर अखिल विश्व में प्रविष्ट है।

रसास्वादन=रस का चखना। मिश्रित=मिला हुआ।
योजन=आठ मील। अवयव=अंग। श्वासोच्छ्वास=सांस, प्राण
सञ्चालन=चलना। प्रविष्ट=व्याप्त।

१५

तैतीस करोड़ देवता

गुरुजी ! आप कहते हैं कि हिन्दूधर्म में परमेश्वर एक है तो तैतीस करोड़ देवता क्यों कहे जाते हैं ?

गुरुजी—परमेश्वर एक है, किन्तु उसके प्रकाश के स्थान असंख्य हैं। इन विश्व के सूर्य, तारे और पृथ्वी आदि अगणित पदार्थों में उसकी अगणित शक्तियां प्रकाशमान हैं, अतएव करोड़ों देवता हैं, यह कहा जाता है।

मतिराम—गुरुदेव ! विश्व के समस्त पदार्थों में परमात्मा की शक्तियां स्फुरित हो रही हैं, इस भाव की एक सुन्दर कविता मुझे याद आती है:—

विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा दिखा रही हैं।
अनादि तेरी अनन्त माया जगत् को लीला दिखा रही है॥
तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना वह देख सकता है चन्द्रिका को।
तुम्हारे हसने की धुन में नदियां निनाद करती ही जा रही है॥

गुरुजी—यह कैसा सुन्दर भाव है ! वस्तुतः ईश्वर का ऐश्वर्य विश्व की इन सब वस्तुओं में देखने में आता है। उसका प्रतिबिम्ब सभी पदार्थों में झलकता है। वह एक है, किन्तु अनेक रूपों से प्रकट हो रहा है। इस बात के समझ लेने पर हिन्दूधर्म

में "तैतीस करोड़" देवता क्यों कहे जाते हैं इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन प्रतीत नहीं होता । ये देवता एक ही परमात्मा के अनेक रूप हैं । करोड़ के लिये मूल संस्कृत-शब्द 'कोटि' है। कोटि शब्द, वर्ग वा प्रकार के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। १२ आदित्य कहे जाते हैं, ११ रुद्र, ८ वसु* और देवताओं के राजा इन्द्र १ और उत्पन्न हुए वस्तुमात्र के पति, स्वामी, प्रजापति १, इस प्रकार मिलकर ३३ होते हैं। करोड़ 'कोटि'—देवता, इस वाक्य का यह अर्थ है कि देवताओं की कुल संख्या ३३ है, अर्थात् वे तेतीस प्रकार के हैं।

लड़के 'तेतीस करोड़' देवताओं का यह अर्थ जान कर अचम्भे में हुए और उन्हें यह मालूम हुआ कि लोग इस विषय में कितने अनिभिज्ञ हैं! सब अपने-अपने मन की शङ्काओं का समाधान गुरुजी से करने के लिये उत्सुक हुए।

अगणित = जो गिने न जांय । निनाद = शब्द । स्फुरित = प्रकट होना । प्रतिबिम्ब = छाया । स्मित = मुस्कान । अनभिज्ञ = अज्ञान ।

---

* (१) अरुण (२) सूर्य (३) वेदांग (४) भानु (५) इन्द्र (६) रवि (७) गभस्ति (८) यम (९) सुवर्णरेता (१०) दिवाकर (११) मित्र (१२) विष्णु ये १२ आदित्य हैं। (१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान (५) व्यान (६) नाग (७) कूर्म (८) कृकर (९) देवदत्त (१०) धनंजय (११) जीवात्मा ये ११ रुद्र हैं। (१) वायु (२) अग्नि (३) पृथिवी (४) अन्तरिक्ष (५) आदित्य (६) द्यौ (७) इन्द्र (८ नक्षत्र ये ८ वसु हैं।

१६

त्रिमूर्ति-ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (शिव)

रमाकान्त नाम का एक चतुर लड़का था। उसने दूसरे दिन धर्मोपदेश शुरू होते ही गुरुजी से प्रश्न पूछा—

गुरुजी ! हमारे धर्म में शिव, विष्णु आदि भिन्न-भिन्न देवता कहलाते हैं, इसका क्या कारण है ?

गुरुजी—यह अच्छा प्रश्न पूछा गया है। हम लोगों में कितने ही ऐसे कट्टर वैष्णव होते हैं जो 'शिव' शब्द का भी प्रयोग नहीं करते, क्योंकि उसमें शिव का नाम ले लिया जाता है। इसी प्रकार से बहुत से शैव भी विष्णु की निन्दा करते हैं। यह बहुत खोटी बात है। मद्रास प्रान्त में कभी अज्ञान और स्वार्थ से शैव और वैष्णवों में बड़े झगड़े हुए थे। इस कारण अपने शास्त्रों में शिव और विष्णु की निन्दा के पिछले समय के मिलाये हुए श्लोक आ गये हैं, उन्हें हमारे कितने ही अज्ञानी भाई शास्त्र समझते है। अब मैं तुम्हें इस सम्बन्ध में ठीक-ठीक बात बतलाता हूँ, पर विषय कुछ कठिन है, इसलिए ध्यान पूर्वक सुनोः—

कुछ समय पहले मैंने तुम्हारे सामने 'ईश्वर' शब्द की व्याख्या की थी, जो कदाचित् तुम्हें याद होगी। 'जिसमें से ये

सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमें से उत्पन्न होकर जीते हैं और जिसके प्रति जीते हैं, जिसमें प्रवेश करते हैं, वह परमात्मा है।"

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

—*श्रीमद्भगवद्गीता अ० ६ श्लो० १८*

इस व्याख्या में परमेश्वर सम्बन्धी तीन बातें हैं (१) एक तो यह कि यह जगत का स्रष्टा है और (२) दूसरी यह कि वह इसकी रक्षा करता है और (३) तीसरी यह कि वह इसका संहार करता है, अर्थात् अपने में मिला लेता है। उत्पत्ति, रक्षण और संहार या लय, इन तीन क्रियाओं को लेकर परमेश्वर के तीन रूप वर्णन करने में आते हैं:—

(१) एक ब्रह्मा, अर्थात् जिस परमेश्वर में से यह विश्व उदित होता है, बढ़ता और फलता है।

(२) दूसरे विष्णु, अर्थात जो परमेश्वर इस जगत् में आत्म रूप से प्रविष्ट हो, इस जगत् की रक्षा करता है। रक्षा के निमित्त वह अवतार भी लेता है।

(३) तीसरे रुद्र अर्थात् जो परमात्मा प्रलय के तूफ़ान और अग्नि के रूपसे इस जगत् का संहार करता है, पर कितनेही कहते हैं कि वह स्वयं ही तूफान रूप है और यदि यह शान्त हो जाय तो जिसमें यह शान्त होता है, वह एक परमात्मा ही है। इसलिए रुद्र का ही दूसरा नाम शिव है अर्थात् जो संहार करता है, वही

सुख भी देता है। फिर तुम्हें याद होगा कि वेदी में जो अग्नि है, वह सब वस्तुओं को जला कर भस्म कर डालती है, पर साथ ही साथ घर-घर में बसकर सब को वह सुख भी देती है। यह शुभ कल्याणकारी अग्नि ही शिव है। अग्नि की सीधी ज्वाला वही शिव की मूर्ति (शिव-लिङ्ग) है। अग्नि की ज्वाला के साथ धुएं की काली-पीली लपटें, वे ही शिवजी की जटा हैं, अग्नि के पधारने की वेदी (कुण्ड) यह शिवजी की जलधारी है और अग्नि में हवन किया हुआ घी तो शिवजी की मूर्ति पर पड़ने वाला जल का अभिषेक है। इस प्रकार से वेद की अग्नि-पूजा ही पुराणों की शिव-पूजा है, और इसी कारण से शैव-सम्प्रदाय में भस्म लगाने की इतनी महिमा है।

स्रष्टा=रचने वाला। *संहार=नाश।*

१७

गणपति और माता

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो।

—ऋग्वेद।

अर्थ—हे अनन्त और सर्वव्यापी ईश्वर आप ही हमारे पिता और आप ही हमारी माता हो।

हिन्दू-धर्म प्रवेशिका

कुछ दिन पहले गणपति उत्सव हुआ था, उसके बाद नवरात्र के दिन आये, और फिर विजयादशमी तो कल हो चुकी है, इसलिये सब के मन में गणपति, दुर्गा और राम-रावण के नाम रम रहे थे।

गुरुजी—बालकों ! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (शिव), ये तीन पृथक्-पृथक् देवता नहीं, पर एक ही ईश्वर के तीन विशेषणों का नाम है। यह तो तुम्हें विदित ही है, कि इनमें से विष्णु और शिव की पूजा तो होती ही है, क्या तुमने ब्रह्मा की पूजा होती हुई देखी है ?

हरिलाल—नहीं महाराज ! कहते हैं कि अजमेर के पास पुष्कर नामक एक तालाब है, उसके किनारे मन्दिर में एक सुन्दर सफेद पत्थर की ब्रह्मा की मूर्ति है, जिसकी पूजा होती है।

गुरुजी - ठीक, पर मेरा कहना है कि तुम सब ने थोड़े ही दिन पहले, ब्रह्मा की वा जिसके नाम में ब्रह्म शब्द आता है ऐसे एक देवता की पूजा होती हुई देखी है और स्यात् तुम में से कितनों ही ने पूजा की होगी।

यह सुन सब बच्चे अचम्भे में पड़ गये और इस बात को न समझने के कारण एक दूसरे की तरफ देखने लगे।

गुरुजी—क्या तुमने थोड़े ही दिन पहले गणपति-उत्सव नहीं किया था ? यह गणपति-पूजा ब्रह्मा व ब्रह्मणस्पति, इस नाम

के देवता की पूजा है। परमेश्वर की स्तुति-वेद के मन्त्र, यही 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ है। हमारे ऋषियों का मत है कि परमेश्वर की स्तुति द्वारा ही इस जगत् में हर एक वस्तु उत्पन्न होती और बढ़ती है। इस कारण इस स्तुति के देवता 'ब्रह्म' ही इस सृष्टि के कर्ता हैं। उनका बड़ा नाम 'ब्रह्मणस्पति' अर्थात् (ब्रह्म–स्तुतिरूपि वाणी के—पति, देवता) है। इन ब्रह्मणस्पति को वेद में एक जगह 'गणों का पति' गणपति, ऐसा विशेषण लगाया है, इसलिये ब्रह्मणस्पति ही गणपति कहलाये (गण=समूह) अर्थात् ईश्वर के स्तुतिरूपी वेद-मन्त्रों के जो समूह –गण—उनके पति वे गणपति हैं। ईश्वर की स्तुति करने में सब विघ्नों का नाश होता है, इसलिये हरएक शुभ काम करने के पहले गणपति का पूजन वा स्मरण करने में आता है। पुस्तक में भी पहले 'श्रीगणेशाय नमः' अर्थात् श्रीगणपति को नमस्कार, यह लिखा जाता है। यात्रा में जाने पर उन्हीं का स्मरण किया जाता है। और विवाह, जनेऊ आदि शुभ प्रसङ्गों पर गणपति की स्थापना के पश्चात् सब काम शुरू होता है। वाणी के पति ब्रह्मणस्पति विद्या के देवता हैं। अतएव गणपति भी विद्या के देवता हैं! इस कारण जब हम बच्चों को पाठशाला में बिठलाते हैं, तब हम विशेष रूप से गणपति ही का स्मरण कराते हैं!

हरिलाल—गुरुजी! इसका निष्कर्ष यह है कि विद्या के देवता का स्मरण करने से सब विघ्न नष्ट होते हैं। यह कितना सुन्दर भाव है!

गुरुजी—ठीक है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि यदि ईश्वर की स्तुति करें और विद्या पढ़ें तो सब तरह की अड़चनें दूर हो जाती हैं।

अब दूसरी बात सुनो। नवरात्र में देवी की पूजा हुई थी। यह देवी तो परमेश्वर की विश्व में भ्राजमान शक्ति है। उससे यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है। इसलिये उसे हम 'अम्बिका' अथवा 'माताजी' भी कहते हैं। उस परमेश्वर की शक्ति तीन तरह की है—एक तो विद्या, जिसे सरस्वती कहते हैं, जो इस विश्व में नदी की भांति बहती रहती है। दूसरी इस विश्व में फैली हुई सुन्दरता है, जो ईश्वर का चिन्ह है, जिसके कारण हमें ईश्वर का भान होता है। इस स्वरूप को 'लक्ष्मी' कहते हैं। इसके सिवाय इस विश्व में सुन्दरता के साथ जो विकराल रूप देखने में आता है, जो ईश्वर की प्रचण्ड शक्ति सब पदार्थों का भक्षण करती है, यह उसकी तीसरी शक्ति है।

बालकों ! बतलाओ कि वह कौन-सी शक्ति है जो सारे पदार्थों का भक्षण करती है।

हरिलाल—काल।

गुरुजी—ठीक, तो सब जगत् को भक्षण करने के लिये मुंह फाड़कर खड़ी हुई इस प्रभु की तीसरी शक्ति का नाम 'काली' या 'चण्डी' है। किन्तु जैसे रुद्र, शिव रूप भी हैं, वैसे ही 'काली'

भी 'गौरी' है (गोरे शिव की पत्नी, मङ्गलकारी परमेश्वर की श्वेत-उज्ज्वल शक्ति)।

इस प्रकार महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती, ये तीन प्रभु की शक्ति के रूप हुए, और ये शिव या रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा, इन तीनों की तीन शक्तियां कही जाती हैं। ब्रह्मा, यह वाणी के देवता और उनकी शक्ति सरस्वती वाणी की देवी है।

जगत् में व्याप्त विष्णु की पत्नी लक्ष्मी जी हैं। ये सुन्दरता की मूर्ति हैं। संहार करने वाले ईश्वर रुद्र वा महाकालेश्वर की पत्नी महाकाली सब पदार्थों का भक्षण करने वाली शक्ति हैं।

हरिलाल—गुरुजी! महाकाली को सिंह, व्याघ्र पर बिठाते हैं। इसका कदाचित् यह कारण हो सकता है कि वे सब का भक्षण करने वाली शक्ति हैं।

गुरुजी—ठीक यही बात है। और सरस्वती को हंस पर बिठाते हैं। कवि लोग कहते हैं कि हंस मोती चुगता है, दूध और पानी को अलग कर उसमें से दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है। इसी प्रकार सरस्वती अथवा विद्या जो सुन्दर और सत्य होती है, उसको ग्रहण करती है और जो खोटी और मैली होती है उसे छोड़ देती है। लक्ष्मी जी का गण उल्लू भी है जिस का अर्थ यह है कि केवल लक्ष्मी ही के उपासक धन के मद में अन्धे हुए रहते हैं।

निष्कर्ष = सार। *भ्राजमान = प्रकाशमान।*

१८

अवतार

गुरुजी—बालकों ! इस बालपुस्तक में 'चन्द्रमा' की कविता है, क्या वह तुम्हें स्मरण है ?

बहुतों को वह मधुर कविता स्मरण थी, इसलिए उनमें से एक बोला:—

रमाकांत—गुरुजी ! मैं बोलूँगा—

'माई, मोहि चन्दा प्यारो दे री !
चन्दा प्यारो दे री ! माई, मोहि चन्दा प्यारो दे री।
नौ लख तारे, बीन गगन ते गोदी में भर दे री ;
माई, मोहि चन्दा प्यारो दे री ॥'

बालक ने यह कविता गाई । गुरुजी ने कहा—बस, अब यह कहो कि वह चन्द्रमा को गोदी में रखकर उससे खेलना क्यों चाहता था ?

कान्तिलाल—चन्द्रमा एक बहुत ही मनोहर वस्तु है।

गुरुजी—तो कहो, यदि ईश्वर भी तुम्हारे समीप हो तो तुम्हें अच्छा लगे या नहीं ?

राधाकान्त—क्यों न अच्छा लगे ? यदि वह देख पड़े और उसके साथ बातचीत हो सके तो कैसा अच्छा हो ?

गुरुजी--विचारचन्द्र ! तुम क्या कहते हो ?

विचारचन्द्र--जो राधाकान्त कहता है, ठीक ही है, पर ईश्वर किस रीति से देखा जाता है, उसके साथ बातचीत कैसे हो सकती है ? वह कुछ इस मेज या इस वृत्त के सदृश नहीं जिसे हम अपनी दृष्टि से देख सकें और बातचीत कर सकें।

गुरुजी--ठीक, अब मेरे दूसरे प्रश्न का उत्तर दो। ईश्वर कहाँ रहता होगा ? अपने पास या दूर ?

विचारचन्द्र—वह हमारे समीप और हम से दूर भी रहता है, दूर से दूर तारों में और समीप से समीप हमारे हृदय में उसका वास है। कवि दलपतराय की सुन्दर कविता का यही भाव है:—

आस पास आकाश में, अन्तर मँह आभास।
पात पात में पाइये, विश्वपती को वास॥

गीता में भी कहा है:—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

[गीता अ० १३ श्लो० १३]

अर्थात्--उसके सब ओर हाथ पैर हैं, सब ओर आँख, सिर और मुँह हैं, सब ओर कान हैं और वही इस लोक में सर्वत्र व्याप रहा है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

[यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र १]

अर्थ----इस संसार में ऐसा कोई स्थान या वस्तु नहीं है, जहाँ ईश्वर व्याप्त नहीं । सर्वत्र ईश्वर व्यापक है।

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

[ऋग्वेद]

हे अङ्ग ! जिससे यह नाना प्रकार की सृष्टि प्रकाशित हुई है, और जो इसका धारण और प्रलय करता है, जो इसका अध्यक्ष है, और जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति और लय को प्राप्त होता है, वही परमात्मा है, उसको तुम जानो, और दूसरे किसी को सृष्टिकर्ता न मानो ।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥

[श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११]

समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है; वह सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, सब का साक्षी, सब को चेतनत्व प्रदान करने वाला, शुद्ध और निर्गुण है ।

गुरुजी—तो वह क्यों नहीं देख पड़ता ?

विचारचन्द्र—कारण यह कि उसका शरीर नहीं।

गुरुजी—शरीर हो तो क्या वह देखने में आवे ?

विचारचन्द्र—हाँ, महाराज।

गुरुजी—लेकिन मेरा तो शरीर है, मैं तुम्हें कहाँ दिखाई देता हूँ ?

विचारचन्द्र—यह आप दिखाई दे रहे हैं।

गुरुजी—यह तो मेरा शरीर दिखाई देता है।

विचारचन्द्र—किन्तु शरीर में आप हैं न ?

गुरुजी—तो इसी प्रकार समझो कि इस विश्वरूपी शरीर में भी ईश्वर निवास करता है और इसलिये वह दूर से दूर रहता हुआ भी हमारे समीप से समीप है। उसका समीप आना ही अवतार, अर्थात् नीचे उतर कर आना है। किन्तु इस विश्व में उतर कर आना तो उसका सामान्य अवतार है, पर इसके सिवा उसके कितने ही विशेष अवतार भी होते हैं। प्रभु इस विश्व के कण-कण में व्याप्त है, तथापि हमारे ऐसे साधारण मनुष्य उसे देख नहीं सकते, लेकिन जब वह अमुक पदार्थ में वा अमुक मनुष्य में प्रगट होता है, तब उसे तुरन्त पहचान सकते हैं।

चुन्नीलाल—गुरुजी, वे पदार्थ या मनुष्य कहाँ होंगे, जिन में हम प्रभु का अवतार देख सकें ?

गुरुजी—इस विश्व में जो वस्तुएँ सुन्दर, प्रतापी और कल्याणकारी तथा अद्भुत शक्तिशाली हों, उन सभी में।

चुन्नीलाल—तो जगत् के सभी बड़े-बड़े पुरुषों में प्रभु का अवतार है।

गुरुजी—हाँ।

विचारचन्द्र—किन्तु उनमें तो बहुत से दुष्ट पुरुष भी होते हैं।

गुरुजी—ठीक, किन्तु दुष्टता में बड़प्पन नहीं। बड़प्पन जगत के कल्याण करने में है। अपने न्याय से, ज्ञान से, प्रेम से, उपदेश इत्यादि बहुत प्रकार से जो दुनिया पर उपकार करते हैं, उन में ईश्वर का अवतार समझना चाहिए। मनुष्य उन सद्‌गुणों में ही भगवान् की शक्ति का अंश मान कर उनके द्वारा भगवान् को स्मरण करते हैं, क्योंकि साधारण मनुष्यों को अपना चित्त उस प्रभु की ओर लगाने के लिये अपनी रुचि के अनुसार कुछ आधार चाहिये, किन्तु ज्ञानी और योगियों के लिये, जिनका चित्त समाधि द्वारा शान्त या अपने आधीन हो गया है, उन्हें वैसे नाम रूप के साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि उनको प्रभुका साक्षात्कार समाधि द्वारा होने लग जाता है। ईश्वर कुछ ऊँचे आकाश में बैठा हुआ इस जगत् को नहीं चलाता, वह तो हमारे अन्दर बस कर काम करता है। भगवद् गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि, जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म उठ खड़ा

होता है, तब-तब मैं सत्पुरुषों का रक्षण करने के लिये, दुष्टों का नाश करने के लिये और इस रीति से धर्म का फिर स्थापन करने के लिये अवतार लेता हूँ। उस समय मनुष्य-लीला करता हुआ दिखाई पड़ता हूँ।

जगत् का रक्षण करना—यह काम विष्णु भगवान् का है। इस कारण प्रायः विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं। ऐसे अवतार दस अथवा (दूसरी संख्या के अनुसार) चौबीस कहे गये हैं उनमें से कितने ही तो परमेश्वर के स्वरूप समझाने के लिये बनाये हुए दृष्टान्त हैं, जैसे कूर्मावतार। कछुआ जैसे अपने अंग भीतर खींच लेता है और फिर फैला देता है, उसी प्रकार परमात्मा भी सृष्टिरूपी अंग को अपने ही में संकुचित कर लेता है और फिर उसे फैला देता है। कितने ही अवतार जगत् के लिये केवल ज्ञान देने वाले महापुरुष हैं, जैसे, ऋषभ-देव, कपिल, बुद्ध। कितने ही दुष्टों का हनन कर जगत् की रक्षा करने के लिये हैं, जैसे नरसिंह, परशुराम, राम और कल्कि और कितने ही ज्ञान और रक्षण दोनों ही के निमित्त होते हैं, जैसे कृष्ण।

१६

राम और कृष्ण

भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये प्रभु अपनी माया से लीलामय शरीर धारण किये हुए दिखाई देते हैं। जैसे कि गीता में लिखा है:—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(*गीता अ० ४, श्लोक ६*)

अर्थात्—मैं सर्व प्राणियों का स्वामी और जन्म रहित हूँ। यद्यपि मेरे सर्वव्यापी आत्मस्वरूप में कभी भी विकार नहीं होता, तथापि अपनी ही प्रकृति में अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लिया करता हूँ।

विष्णु के सब अवतारों में राम और कृष्ण, ये दो अवतार मुख्य गिने जाते हैं। नारायण, वासुदेव इत्यादि नामों से भी विष्णु का भजन होता है, किन्तु वैष्णव पन्थ का अधिक भाग राम अथवा कृष्ण के नाम से ही विष्णु का भजन करता है।

वसुदेव के पुत्र वासुदेव—कृष्ण इस प्रकार का अर्थ है। किन्तु ईश्वर रूप से जब इसका अर्थ ग्रहण करना होता है, तब

प्राणिमात्र में बसने वाला, प्राणिमात्र को बसाने वाला और उसमें प्रकाशमान् दीप्तिमान् परमात्मा, यही इस वासुदेव शब्द का अर्थ होता है।

राम—प्राणिमात्र में रमण करने वाले और उसे रमने वाले प्रभु का नाम राम है। राम राजा दशरथ के पुत्र और सीता के पति थे। यह तो उनका स्थूल अवतार था। उस अवतार का चरित्र तुम सबने बहुत बार पढ़ा और सुना होगा, किन्तु उस अमृत को पीकर किसे परितृप्ति होती है? अतएव हम उस चरित्र को संक्षेप में फिर स्मरण करें। रामावतार में रह कर प्रभु ने पिता के वचन का पालन किया। भरत को राज-सिंहासन सौंप कर स्वयं सीता और लक्ष्मण के साथ वे वन में गये। जब रावण सीता को पञ्चवटी से ले गया, तब उनकी खोज में वे दक्षिण की ओर चले, जहाँ सुग्रीव और हनुमान् के साथ उनकी मैत्री हुई। हनुमान् सीता जी की खोज के लिए भेजे गये। वे समुद्र पार कर लङ्का में पहुंचे, जहाँ अशोक वाटिका में, रात-दिन निरन्तर राम नाम की रटना करती हुई सीताजी को उन्होंने देखा। उन से मिलकर हनुमान् पीछे लौटे और सीताजी का सारा वृत्तान्त राम को कह सुनाया। समुद्र पर पुल बांध कर राम अपनी वानर सेना के साथ लङ्का में उतरे, रावण के साथ युद्ध किया, रावण को मारा, रावण के भाई विभीषण को गद्दी पर बिठाया और सीता को ले अयोध्या को वापिस आये। वहाँ न्याय से

और प्रजा को सुखी रख कर उन्होंने राज्य किया और समय आने पर वे स्वधाम को प्रस्थान कर गये। एक वचन, एकपत्नीव्रत, धैर्य्य, न्याय और प्रजारंजन, इन गुणों के लिए रामावतार प्रसिद्ध है।

कृष्ण—जब कभी धर्म की अवनति और अधर्म का उत्थान होता है, तब साधु पुरुषों की रक्षा के लिये और दुष्ट पुरुषों के विनाश के लिए जिसने अवतार लिया, उस प्रभु का नाम कृष्ण है। उनके अवतार सम्बन्धी जीवन के तीन भाग हैं—एक तो गोकुल के कृष्ण, दूसरे द्वारिका के कृष्ण, और तीसरे अर्जुन के सखा, कुरुक्षेत्र के युद्ध में उनका सारथी बनना और ऐसी विषम अवस्था में उन्हें उपदेश देना। परमात्मा की सच्ची भक्ति जैसी गोपियों के प्रेम थी वैसी ऋषियों के यज्ञ में भी न थी, जैसी स्त्रियों में थी वैसी पुरुषों में न थी, जो अनेक देवताओं की उपासना से उत्पन्न नहीं हो सकती थी वह अनन्य भक्ति एक प्रभु में शरणागत होने से ही हुई। गोकुल में श्रीकृष्ण जी १६ वर्ष की आयु तक रहे। उतने समय में वहाँ के गोप और गोपियों के साथ अनेक प्रकार की बाल-लीला करते रहे, जिसको रासलीला भी कहते हैं। यथा—गाना, बजाना, खेलना, कूदना, नाचना और स्वांग बनाकर विनोद करना, मल्ल-कुश्ती आदि व्यायाम करना, गौ चराना आदि यही गोकुल-लीला के उपदेश हैं। द्वारिका में राज्यस्थापित कर यदुवंशियों की राज-सत्ता

चारों ओर फैलाई, गृहस्थाश्रम के धर्मों का पालन किया, जरासन्ध आदि अन्यायी राजाओं को मार अनेक राजाओं को बन्दीगृह से छुड़ाया इत्यादि, ये सब वृत्तान्त कृष्ण के द्वारिका के राजजीवन के हैं। पाण्डवों के साथ सम्बन्ध और स्नेह के कारण युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में मेहमानों के पाद-प्रक्षालन का काम विनय-भाव से आपने अपने ऊपर लिया। कौरव-पाण्डवों के युद्ध के पूर्व, जहाँ तक हो सके, युद्ध न हो तो अच्छा, ऐसा विचार ठान कर दुर्योधन को समझाने वे स्वयं गये। दुर्योधन ने न माना, युद्ध की तैयारियां हुईं।

दो सेनायें एक दूसरे के सम्मुख सज-धज कर तैयार हुईं, कृष्ण अर्जुन के सारथी बने। किन्तु जिस घड़ी उन्होंने अर्जुन का रथ कौरव सेना के सामने लाकर खड़ा किया, त्योंही अर्जुन अपने बन्धु-बान्धवों को, वृद्ध, गुरु और स्वजनों को युद्ध के लिये उद्यत देख युद्ध से पराङ्मुख होने लगे, उनकी छाती कांप उठी, धनुष हाथ से गिर पड़ा, शरीर से पसीना छूट निकला। वे कृष्ण से हाथ जोड़ कर पूछने लगे, 'भगवान्! इन सगे सम्बन्धियों के सामने शस्त्र कैसे उठाया जाय? उठाऊं तो पाप होगा, कुटुम्ब का क्षय होगा, और लड़कर भी मैं जीतूंगा ही इस बात का मुझे कुछ भरोसा नहीं। अतः जैसा तुम कहो, वैसा करूं। क्या मैं लड़ूं व न लड़ूं! मुझे तो कुछ भी नहीं सूझ पड़ता।' उस समय श्री कृष्ण ने अर्जुन को एक ऐसा विशाल उपदेश दिया कि जिसमें सब धर्मों का समावेश हो जाता है। वह उपदेश

श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है और हिन्दू धर्म के सभी आचार्य और गुरुओं ने, चाहे शैव अथवा वैष्णव हों, इसका बहुत ही आदर किया है। इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का संक्षेप में बड़ी अच्छी रीति से वर्णन किया गया है। यूरोप, अमेरिका आदि देशों के विद्वान् लोग इसको बड़े प्रेम से पढ़ते हैं, इसलिये समस्त संसार में गीता की ख्याति हो गई है।

हिन्दू लोग तो श्रीमद्भगवद्गीता को वेद और उपनिषदों का सार मानते हैं और आश्चर्य यह है कि मनुष्य जितना गीता का मनन करता है, उतना ही अधिक उसको नये ज्ञान का अनुभव होता रहता है। इसलिए भिन्न-भिन्न विद्वानों ने संसार की अनेक भाषाओं में इस पर हज़ारों ही टीकायें रची हैं। यह सभी टीकायें अपने अपने ढ़ंग की हैं, किन्तु वर्तमान समय में जो टीका 'गीता-रहस्य' के नाम से प्रसिद्ध हिन्दूधर्म-तत्त्ववेता और देश-नेता लोकमान्य पण्डित बालगङ्गाधर तिलक द्वारा बनाई गई है, वह तो एक अद्भुत टीका बनी है। प्रत्येक हिन्दू का परम कर्त्तव्य है कि गीता की एक प्रति अपने पास अवश्य रखे तथा उसे नित्य पढ़े व मनन करे और संसार में गीता का प्रचार करे तथा कराये।

बन्दीगृह = जेल, कारागार । अनन्य = तन्मय । प्रक्षालन = धोना ।

२०

पाण्डव

पांच हजार वर्ष पहले हस्तिनापुर में चन्द्रवंशी राजा शान्तनु राज्य करते थे। उनके विचित्रवीर्य और भीष्म नाम के दो पुत्र थे। भीष्म बड़े थे किन्तु उन्हों ने आजन्म अविवाहित रहने तथा राजगद्दी पर न बैठने को प्रतिज्ञा करली थी, अतएव राजा शांतनु की मृत्यु पर उनके छोटे पुत्र विचित्रवीर्य ही गद्दी पर बैठे।

विचित्रवीर्य के दो पुत्र हुए। बड़े का नाम धृतराष्ट्र और छोटे का पाण्डु था। धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धे थे, अतएव विचित्रवीर्य की मृत्यु पर पाण्डु राज-सिंहासन पर बैठे। उनके पांच पुत्र थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। ये ही पाण्डवों के नाम से विख्यात हुए।

पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् धृतराष्ट्र राजा बने। उनके एक-सौ पुत्र थे। जिनमें दुर्योधन सबसे बड़ा था। इनको कौरव कहते थे। दुर्योधन अति दुष्ट स्वभाव का था। इसने अपने पिता को कह-सुन कर पाण्डवों को देश से निकलवा दिया। निर्वासन का समय पाण्डवों ने पांचाल देश में बिताया, जहाँ पर अर्जुन ने अद्वितीय धनुर्विद्या का परिचय देते हुए स्वयंवर में राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी से विवाह किया।

पांचाल नरेश से सम्बन्ध हो जाने के पश्चात् पाण्डव लौटे और कौरवों से आधा राज्य मांगा । कौरवों ने राज्य का ऊसर भाग उन्हें दे दिया। पाण्डवों ने भूमि साफ करके वहाँ इन्द्रप्रस्थ नाम का नगर बसाया जो आज कल दिल्ली के नाम से विख्यात है।

पांडवों की उन्नति देख कर दुर्योधन की ईर्ष्या और भी बढ़ गयी। फलतः दुर्योधन ने धर्मराज युद्धिष्ठिर को जूआ खेलने के लिये निमन्त्रित किया। मामा शकुनी के छल से युधिष्ठिर जूए में द्रौपदी, राजपाट, धन आदि सब हार गये। द्रौपदी का भरी सभा में दुर्योधन तथा दुःशासन द्वारा चीर खेंच कर घोर अपमान किया गया। भगवान् कृष्ण ने चीर अनन्त करके द्रौपदी की लाज बचाई। पाण्डव लोहू का घूंट पीकर रह गये। अत्याचार सहा, किन्तु धर्म पर डटे रहे। कौरवों ने पाण्डवों को १३ वर्ष का वनवास दिया।

पाण्डव वनवास-अवधि व्यतीत कर पुनः आये और दुर्योधन से अपना राज्य लौटा देने की प्रार्थना की, किन्तु वह तो अन्याय का सहारा लिये था। सूई की नोक बराबर भूमि देने को भी उद्यत नहीं हुआ। इस पर पांडवों ने भगवान् कृष्ण की शरण ली। कृष्ण ने दुर्योधन को बहुत समझाया किन्तु वह दुष्टता पर ही डटा रहा। उसने अपनी ओर से विशाल सेना तथा भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण, दुःशासन, अश्वत्थामा जैसे वीर

पाण्डवों से युद्ध करने के लिये तत्पर किये । किन्तु उनका पक्ष अधर्म और अन्याय का था। दूसरी ओर वीर पांडव तथा न्याय और धर्म के रूप में स्वयं कृष्ण भगवान् थे। भगवान् कृष्ण के गीता के उपदेश को सुन कर अर्जुन के ज्ञान-चक्षु खुल गये और अपने अपूर्व युद्ध-कौशल से समस्त कौरव सेना का नाश कर दिया। कुरुक्षेत्र की रणभूमि में १८ दिन के घोर युद्ध में १८ *अक्षौहिणी सेना समेत सारे ही कौरव वीर मृत्यु को प्राप्त हुए। अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु भी युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुआ। युधिष्ठिर अन्त तक धर्म पर दृढ़ रहे। अनेक वर्षों तक वे भाइयों समेत देश की सुख-समृद्धि बढ़ाते हुए राज्य करते रहे और अन्त में अर्जुन के पोते परीक्षित को राज्य देकर भाइयों सहित स्वर्गपुरी की यात्रा की।

बालकों! पाण्डव बड़े ही बलशाली थे। वे अन्त तक सत्य मार्ग से विचलित नहीं हुए। युधिष्ठिर का चरित्र नितांत निष्कलंक और आदर्श है। अतएव हमें उन के चरित्र से विशेष शिक्षा लेनी चाहिये।

---

* एक अक्षौहिणी सेना में २१८७० रथ, इतने ही हाथी, ६५६१० अश्वारोही और १०८३५० पैदल सेना होती थी।

१०

चार पुरुषार्थ

गुरुजी—बालकों ! प्रारम्भ में निश्चय की हुई अपने धर्म की व्याख्या तो तुम्हें याद होगी ?

परमेश्वर को समझना, उसका भजन करना, उसके इच्छानुसार काम करना, जिससे अपनी और सब की आत्मा का भला हो—इसका नाम धर्म है। हिन्दू धर्म में परमेश्वर को समझने और भजन के लिये उसका स्वरूप कैसे माना गया है, यह मैं बतला चुका हूँ। परमेश्वर कैसे कर्म करने से प्रसन्न रहता है इस विषय में अब थोड़ा विचार करें।

सुबोध—कैसे काम किये जावें कि ईश्वर प्रसन्न रहे, यदि यह आप मुझ से पूछें तो मैं यह कहूँगा कि नीति के अनुसार व्यवहार करने से ईश्वर सन्तुष्ट होता है।

गुरुजी—तो नीति क्या है ?

सुबोध—सच बोलना, विश्वासपात्र बनना, दूसरों का भला करना इत्यादि।

गुरुजी—ठीक, इस विषय पर आगे चल कर और विशेष विचार करेंगे। किन्तु इसके साथ कोई तुम से यह पूछे कि कमाना भला है वा बुरा, तो क्या कहोगे ?

चार पुरुषार्थ

सुबोध—कमाना भला ही है, उद्योग करना, पैसा कमाना ये बातें प्रामाणिकता के साथ होनी चाहिये।

गुरुजी—यदि कोई फिर तुम से पूछे कि क्या धन कमा कर सुख भोगना चाहिये या नहीं, तो तुम क्या कहोगे ?

सुबोध—निस्सन्देह सुख भोगना उचित है, किन्तु निरुद्यम रह कर, धनोपार्जन के विना, सुख भोगना ठीक नहीं, और न ऐश आराम ही करना उचित है।

गुरुजी—फिर यदि कोई तुम से पूछे कि क्या अर्थोपार्जन और सुखोपभोग के साथ ईश्वर-भक्ति और कुछ परलोक का विचार करना उचित है या नहीं तो तुम क्या कहोगे ?

सुबोध महाराज ! यह तो उचित ही है।

गुरुजी—अब सुनो, तुम आज हिन्दू-धर्म-शास्त्र के एक बड़े सिद्धांत को साधारण विचार करते-करते सीख गये। वह यह कि चार पुरुषार्थों के सिद्ध करने और यथासम्भव इन चारों का एक दूसरे के साथ मेल करने में मनुष्य के जन्म का सार्थक्य या प्रयोजन है। वे पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं।

(१) धर्म—अर्थात् नीति-नियम, यह करना चाहिये, यह न करना चाहिये, इस तरह की आज्ञायें, जिन पर जनसमाज स्थित है।

(२) अर्थ—अर्थात् धन, जिसके उपार्जन में मनुष्य दिन रात दौड़ता-फिरता है।

(३) काम—अर्थात् कामना, सुखोपभोग की इच्छा।

(४) मोक्ष—अर्थात् बन्धन से छूटना। इस संसार में हम जिन के ज्ञान, दुःख और पाप से परिवेष्टित हैं, उनसे छूटना ही मोक्ष है।

वीरेन्द्र—गुरुवर! क्या हम धर्मानुसार चलने से पाप और दुःख से न छूट सकेंगे?

गुरुजी—अवश्य छूट सकेंगे, यदि धर्म शब्द को विशाल अर्थ में समझकर तदनुसार चलें तो छूटना सम्भव है। यदि धर्म अथवा नीति नियमों को ही हम समझ कर बैठे रहें और सत्कर्म, आचरण तथा परमेश्वर का विचार और उसकी भक्ति इत्यादि बड़े-बड़े विषय छोड़ दें तो मोक्ष कैसे सम्भव है? इनके बिना अपना मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही समझना चाहिये। इसलिये हिन्दू-धर्मशास्त्र में धर्म के उपरान्त मोक्ष माना जाता है।

वीरेन्द्र—गुरुदेव! तो वह चौथा पुरुषार्थ सबसे उत्तम है।

गुरुजी—हाँ, किन्तु वह पहले पुरुषार्थ के बिना हो नहीं सकता, परमेश्वर की भक्ति या परमेश्वर का ज्ञान, धर्म और नीति के बिना हो नहीं सकता इस लिये धर्म सबका आधार है। अर्थ और काम ये भी पुरुषार्थ हैं-क्योंकि पैसा कमाने और सुखोपभोग करने से परमेश्वर अप्रसन्न नहीं होता तथापि इन दोनों को धर्म और मोक्ष के आधीन रखना चाहिये।

निरुद्यमी = उद्यमरहित। कुछ कार्य न करना।
उपार्जन = कमाना। परिवेष्टित = बंधा हुआ।

❀

२२

चार वर्ण

गुरुजी—बालकों ! तुम इतना तो समझ गये होगे कि जब हम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों को लक्ष्य में रख कर चलेंगे, तभी हमारा जीवन पूर्ण रूप से सार्थक होगा। लेकिन यदि कोई तुम से पूछे कि धर्म क्या वस्तु है, धर्म का कैसे उपार्जन करना चाहिये, सुखोपभोग कैसे करना चाहिये, ईश्वर का अनुभव किस रीति से होगा इत्यादि तो तुम क्या उत्तर दोगे ?

आनन्द—हम कुछ थोड़ी बात कह सकते हैं, किन्तु इन प्रश्नों का यथोचित उत्तर न दे सकेंगे। विद्या के पढ़े बिना ये सब बातें ठीक ठीक समझ में नहीं आतीं।

गुरुजी—ठीक, विद्या ही उन पुरुषार्थों की सिद्धि का मूल है। विद्या के बिना कुछ भी नहीं हो सकता, इस लिये देश में बहुत सी पाठशालायें, शिक्षक और उपदेशक होने चाहिये।

किन्तु बालकों ! ईश्वर न करे ऐसा हो—मान लो, इसी क्षण हमारी पाठशाला में लुटेरे अकस्मात् आ घुसें तो ?

सूर्यदेव—पर लुटेरे कैसे आ सकते हैं, राजा हमारी रक्षा करता है। उसके नियत किये हुए पुलिस-विभाग का यह कर्त्तव्य है कि वह लुटेरों को पकड़े और दण्ड दिलावे।

गुरुजी—पर यदि लुटेरे शस्त्र लेकर मारने आवें तो ?

सूर्यदेव—जहाँ तक हो सके उन्हें पकड़ना चाहिये, नहीं तो फिर मारना चाहिये।

गुरुजी—ठीक, तो इतना ध्यान में रखो कि जन-समाज में जैसे विद्वान, गुरु और उपदेशकों के एक वर्ग की आवश्यकता है, वैसे ही प्रजा की रक्षा करने वालों का दूसरा वर्ग होना चाहिये। किन्तु यह कहो कि पाठशाला के गुरु और पुलिस-विभाग के निर्वाह के लिये धन चाहिये, वह कहाँ से मिले ?

चन्द्रकान्त—(विचार कर) राजा हमारे पास से जो कर लेता है, उसमें से पैसे दे।

गुरुजी—यदि लोगों के पास पैसे ही न हों तो ?

चन्द्रकान्त—यदि हम पढ़ें और उद्योग करें तो क्या हम अपने प्रतापी राजा की छत्रच्छाया में बस कर धनोपार्जन नहीं कर सकते ?

गुरुजी—तुम्हारा उत्तर एक तरह से ठीक है, किन्तु यदि लोग केवल कर देकर बैठे रहें और राजा केवल रक्षामात्र करे तो इतने से क्या बड़े-बड़े विद्यालय, औषधालय, रेल, धर्मशाला इत्यादि जो सार्वजनिक हित और आराम के लिये अनेक साधन चाहिये, वे पूरे पड़ सकते हैं ? हम में से कितने ही खेतों में सुधार कर, नये-नये कलाकौशल निकाल कर, तथा देश परदेश में व्यापार चलाकर यदि खूब धनोपार्जन करें और

उस धन का लोगों की भलाई में उपयोग हो, तभी हम सुख से जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इसलिये जन-समाज में इस तरह का काम करने वाले कितने ही धनवान् और धन कमाने वाले पुरुष अवश्य होने चाहियें। यह जन-समाज का तीसरा वर्ग है।

अब यह कहो—ये धनवान् लोग तो पैदा करते हैं, पर दुनियाँ में यदि मजदूर ही न हों तो क्या धन पैदा हो सकता है।

रामनाथ—नहीं। मैं एक बार एक बड़े कारखाने में गया था। वहाँ मैं ने मजदूरों के झुण्ड-के-झुण्ड देखे। वे ही लोग करोड़ों रुपयों का सामान बना रहे थे।

गुरुजी—ठीक, मजदूर जन-समाज का चौथा वर्ग है। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि लोहे के ढालने और बिजली के पैदा करने की विद्या सीखने वाले पण्डित न हों, रक्षा करने के लिये कोई राजा न हो और कारखानों के धनवान मालिक भी न हों, तो विचारे मजदूरों की जीविका भी मुश्किल से मिलेगी। इस लिए सचमुच जन-समाज में इन चारों वर्णों की आवश्यकता है।

अतएव हिन्दू-धर्मशास्त्रकारों ने जन-समाज के चार वर्ग बनाये हैं, जो 'वर्ण' कहलाते हैं। ये चार वर्ण इस प्रकार से हैं—

(१) **ब्राह्मण**—जिनका विशेष काम विद्या पढ़ना, पढ़ाना और धर्म का उपदेश करना है।

(२) क्षत्रिय—जिनका विशेष कार्य प्रजा की रक्षा करना और युद्ध में लड़ना है।

(३) वैश्य—जिनका विशेष काम खेती, पशुपालन और व्यापार आदि साधनों से धन उत्पन्न करना है।

(४) शूद्र—जिनका विशेष काम मजदूरी करना और सेवा करना है।

सार्वजनिक = सभी के लिए, वा सभी से सम्बन्ध रखने वाला।
जनसमाज = मनुष्यों का समुदाय।

❀

२३

चार वर्ण

(ख)

व्रजनाथ—गुरुजी, कहते हैं कि प्राचीन समय में हमारा समाज एकरूप था और फिर कालान्तर में उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये चार विभाग पड़ गये, यह क्या सच है?

गुरुजी—ठीक! जब तक जन-समाज सादी स्थिति में रहता है, तब तक एक मनुष्य अनेक धन्धे कर सकता है, लेकिन जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है और नई आवश्यकताएं उत्पन्न होती हैं, वैसे-वैसे धन्धे भी बढ़ते जाते हैं। गाँव में बनिये की

दूकान पर आटा-दाल बिकती है, वहीं कपड़े के चार थान भी पड़े होंगे और एक खाने में पत्थर के बर्तन भी रखे होंगे। परन्तु शहर में इन सब की दूकानें अलग-अलग होंगी। लोहे की ईजाद के पहले हल बनाने वाला कदाचित् बढ़ई होगा, लोहे की ईजाद के बाद कुछ दिन लुहार का काम बढ़ई करता रहा होगा, पर अन्त में लुहार के काम के बढ़ जाने से बढ़ई और लुहार के पेशे भिन्न हो गये। इस प्रकार एक में से अनेक धन्धे बन गये और जन-समाज के वर्ग बंधे। मूल में एक ही वर्ण था। यही महाभारत और भागवत आदि पुस्तकों में उल्लेख है।

देवदत्त—किन्तु, गुरुजी, कहते हैं कि वेद में यह कहा गया है कि ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है, वैश्य,जांघ है, और शूद्र पैर है। इसका अर्थ क्या है ?

गुरुजी—इसका अर्थ तुम नहीं समझे ? इसका अर्थ यह नहीं कि इन्हें एक दूसरे से जुदा समझना चाहिये, इसके विपरीत इसका अर्थ तो यह है कि सब एक ही महापुरुष परमात्मा के अवयव हैं। एक शरीर में एक अवयव चाहे ऊंचे स्थान पर हो वा नीचे स्थान पर हो, लेकिन इस कारण किसी को निकम्मा न समझना चाहिये, बल्कि उसे एक ही परमेश्वर के शरीर के अवयव के समान देखना चाहिये।

चन्द्रशेखर—(आश्चर्य के साथ) तो गुरुजी ! ऐसा अर्थ करना चाहिये कि ये सब वर्ण एक हैं, किन्तु लोग तो ऐसा अर्थ करते हैं कि जुदे-जुदे हैं। कैसा अज्ञान !

गुरुजी—यथार्थ है। तुम ही विचारो कि यदि ऐसा न होता तो यह बात पुरुषसूक्त में—जो मुख्यतया परमात्मा के ही विषय में है - किस लिये रखी जाती ? किन्तु तुम्हारी समझ में कुछ फेर रहा है, इसे मैं निकालना चाहता हूँ। सब एक नहीं किन्तु सब मिलकर एक हैं—सब एक शरीर के अवयव हैं।

देवदत्त—गुरुजी ! तो हिन्दू धर्म के अनुसार जन्म से कोई वर्ण ऊंचा नहीं ?

गुरुजी—धर्मानुसार नहीं है। अपनी योग्यता के कारण, लोक में वे ऊंचे-नीचे गिने जाएँ, किन्तु धर्म तो यही मानता है कि वे सब एक परमात्मा के अवयव हैं, और इस कारण वेद मन्त्र हमें कहता है कि भाइयों तुम्हारे में ऊंच नीच के भेद अपने काम के अनुसार पड़ गये हैं, पर यह समझ लो कि सब एक ही महापुरुष के अंग हैं (यह सुन, जुदे २ वर्ण के होते हुए भी सब विद्यार्थियों का ऊंच नीच का अभिमान जाता रहा)।

हरिलाल—गुरुजी ! अब मेरा सिर्फ एक बात का प्रश्न है। हिन्दू-धर्मशास्त्र के अनुसार क्या ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने वाला ब्राह्मण होता है अथवा विद्वान् और विद्या पढ़ने वाला ब्राह्मण है ?

गुरुजी—मूल में तो कर्म और गुण के अनुसार ही विभाग पड़े थे, अर्थात् धन्धे के कारण जन-साधारण में विभाग पड़े, किन्तु सारा जन-समाज एक ही धन्धे पर आरूढ़ होकर देश का

हित बिगाड़ता है, जैसे बौद्धकाल में हजारों स्त्री-पुरुष बिना कुछ विचारे भिक्षु और भिक्षुणी बन गये।

क्योंकि उसके पहले लोग सांसारिक भोग में बड़े आसक्त और क्रूरचित्त हो गए थे, इसलिए बुद्ध को वैराग्य-प्रधान उपदेश देने की अवश्यकता पड़ी। परन्तु इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि जो सम्राट् चन्द्रगुप्त का स्थापित किया हुआ चक्रवर्ती राज्य समस्त भारतवर्ष के उपरांत बाहर के देशों में यथा-पश्चिम में काबुल, ईरान, बलख, बुखारा और पूर्व में जावा, सुमात्रा तक फैल गया था, वह उसके पौत्र सम्राट् अशोक के पश्चात्, इसी वैराग्य के कारण छिन्न-भिन्न हो गया। क्योंकि इस वैराग्य के उपदेश के कारण लोग बहुत अधिक संख्या में वैराग्य लेने लग गये थे। यहाँ तक कि सम्राट् अशोक के समय में उनके अधिकांश भाई और पुत्र भी संन्यासी हो गये थे। किन्तु एक उत्तम फल यह भी हुआ कि सम्राट् अशोक की सहायता से लाखों की संख्या में बौद्ध-भिक्षुकों ने भारतवर्ष से बाहर जा कर चीन, जापान तक बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। उसी प्रचार के प्रभाव से अब तक भी भारतवर्ष के बाहर ४५ [पैंता-लीस] कोटि बौद्धलोग बस रहे हैं, जो हमारे ही हिन्दू भाई हैं। यह हमारे लिये बड़े गौरव की बात है। इस समय भी प्राचीन समय के अनेक आर्य सम्राटों की तरह बौद्ध-काल के इन चन्द्रगुप्त और अशोक आदि सम्राटों को हम लोग आदर-सहित याद करते रहते हैं। किन्तु खेद है कि राजकुलों में छोटी अवस्था में

ही वैराग्य प्रचार होने से भारतवर्ष की राजनैतिक स्थिति इतनी हीन हो गई कि बौद्ध-काल के पश्चात् कोई चक्रवर्ती सम्राट् हिन्दुओं में अब तक नहीं हो सका है।

बाप-दादों का धन्धा सरलता से सीखा जा सकता है, और उसमें प्रवीणता सुगम रीति से मिल जाती है, इसलिये यह साधारण नियम बना दिया गया कि हर एक अपने कुल के धंधे ही किया करें। इस नियम के गुण और कर्म्म के अनुसार, विपरीत दृष्टान्त भी होते थे। विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी तप के प्रताप से ब्राह्मण हो गये। कवष ऐलूष शूद्र थे, किन्तु उनकी धार्मिकता देख ऋषिओं ने उन्हें अपने मण्डल में ले लिया था। जानश्रुति पौत्रायण नाम का एक शूद्र राजा भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर सका था।

बाल्मीकि, व्यास आदि अनेक ऋषिगण की उत्पत्ति का सम्बन्ध शूद्रकुल से होने पर भी वे अपने ज्ञान के कारण ब्राह्मण बन गये थे। ऐसे अनेक दृष्टांत हमारी प्राचीन पुस्तकों में पढ़ने में आते हैं।

चन्द्रकान्त—गुरुदेव! मेरा एक प्रश्न यह है कि इन चार वर्णों में से इतनी अधिक जातियां कैसे बन गईं?

गुरुजी—इसका एक कारण यह है कि वैश्यों के जुदे-जुदे धन्धों के कारण जुदे-जुदे वर्ग बन गये। जो दूसरे भाग में बसने के लिये गये, उन्होंने अपने अपने मूल स्थान के अनुसार जुदी-टोलियां बना लीं और उन टोलियों में भी अच्छे बुरे जुदे-जुदे

रिवाजों के भेद से और परस्पर के झगड़े इत्यादि अनेक कारणों से दूर पड़ते चले गए परन्तु हिन्दूधर्मशास्त्र के अनुसार तो जन-समाज के केवल चार वर्ण हैं और वे भी मूल में कर्म्म और गुण के अनुसार ही पड़े हैं, जन्म से नहीं पड़ते थे। हमारे पूर्व कथनानुसार ये चार वर्ण हजारों मुख-हाथ-पैर वाले जन-समाज रूप एक ही महापुरुष के अङ्ग हैं, इस तत्व को समझ लेना परम आवश्यक है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः

(*गीता अ० ४।१३*)

❀

२४

चार आश्रम

गुरुजी—बालकों! हिन्दू-धर्म में वर्ण-व्यवस्था बांधी गई है उसके विषय में हमारे लम्बे चौड़े विचार करने का कारण तो तुमने समझे ही होगे?

केशव—हाँ, हमारे धर्म्म में जात-पांत की बात बड़ी मानी जाती है, और आजकल सब जगह जात-पांत रहनी चाहिये वा नहीं, इस विषय पर बहुत विवाद होता सुना करते हैं। इस लिये इस प्रश्न पर विशेष विचार करना आवश्यक था।

गुरुजी—ठीक, यदि धर्म के साथ इसका सच्चा सम्बन्ध न होता तो मैं इस विषय में इतनी लम्बी चर्चा न करता। हिन्दू-धर्म्मशास्त्र में यह व्यवस्था बांधने का और इसे शास्त्र की आज्ञा के रूप में रखने का अभिप्राय यह है कि जन-समाज की बिना ऐसी रचना वा व्यवस्था किये हुए, धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकते।

हरिलाल—चारों को न साधें और एक आध साधें तो क्या काम न चले?

गुरुजी—एक दो मनुष्य का कदाचित् काम चल जाय, किन्तु समस्त जन-समाज का काम नहीं चल सकता। कोई भगवद्भक्त मनुष्य तो यह कहेगा कि मुझे पैसा न चाहिये, सुख न चाहिये, मुझे किसी की सेवा न करनी चाहिये, मुझे कोई मार डाले तो भला लेकिन मैं तो जब तक इस देह में जीव है तब तक परमेश्वर का ध्यान ही करूँगा अर्थात् मुझे अर्थ और काम की आवश्यकता नहीं, मुझे वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र बनने की जरूरत नहीं, मैं तो केवल ब्राह्मण ही रहना चाहता हूँ तो कदाचित् एक ही पुरुषार्थ से काम चल सकता है। किन्तु सारे जन-समाज के लिये एक पुरुषार्थ किस प्रकार पर्याप्त होगा? जन-समाज को धन पैदा करने वाले धनिक, श्रम करने वाले मजदूर और रक्षा करने वाले क्षत्रिय अवश्य चाहियें।

हरिलाल—जन-समाज को चाहिये तो इससे हमें क्या मतलब?

गुरुजी—जन-समाज से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके कल्याण में हमारा कल्याण है, इसे क्यों भूल जाते हो ? इसलिए हमारी धर्म की व्याख्या में ही यह बात आती है कि अपना ही नहीं बल्कि सारे जन-समाज का भला करना अपना कर्तव्य है।

ईश्वर ने ही जन-समाज का निर्माण किया है, उसके कल्याण के बिना अपना कल्याण भी नहीं। अतएव किसी भी प्रकार के समाज की व्यवस्था का धर्म के साथ घना सम्बन्ध है। हमारे शास्त्रकारों ने अपने समय के अनुकूल और उपयोगी होने वाली व्यवस्था बनाई थी। तुम्हें अपने समय के अनुसार यदि जुदी तरह की व्यवस्था बनानी हो तो बनाओ, पर किसी प्रकार की वर्णव्यवस्था तो अवश्य ही होगी। यह भी याद रखना चाहिये कि चाहे जैसी व्यवस्था क्यों न हो, उसमें धर्म का अवश्य आदरणीय स्थान होना चाहिये और उस व्यवस्था में अर्थ और काम, धर्म और मोक्ष का लोग तिरस्कार न करने पावें। आधार और छत्त के बिना कभी किसी इमारत को तुमने देखा है ?

वर्णव्यवस्था का हिन्दू-धर्म में इतना अधिक महत्व क्यों है, इस बात को लड़के समझ गये।

गुरुजी—बालकों ! अब हम आगे चलें। हिन्दू धर्म में जैसे जन-समाज की भलाई के लिये कितने ही नियम बनाये गये हैं, वैसे ही हर एक मनुष्य को अपना भला किस रीति से करना चाहिए, इस विषय पर भी विचार कर जीवन के एक

सुन्दर 'समय-विभाग' की रचना की गई है। यह ऐसे विलक्षण विवेक और युक्ति से बनाया गया है कि अपना भला करने के साथ सब का भला हो सकता है। चार आश्रमों की व्यवस्था ही यह 'समय-विभाग' है। वे आश्रम इस प्रकार के हैं—

(१) ब्रह्मचर्याश्रम (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) संन्यासाश्रम। आश्रम का सरल अर्थ विश्राम लेने का स्थान है। पर इसका गम्भीर अर्थ यह है, कि जैसे ऋषि लोग वन में आश्रम बना कर रहा करते थे और उसमें अपने जीवन व्यतीत किया करते थे, वैसे ही साधारण मनुष्य को ऋषियों के आश्रम की भांति पवित्रता से अपने जीवन के चार भाग बिताने चाहियें।

(१) इनमें पहला भाग ब्रह्मचर्याश्रम है। 'ब्रह्म' अर्थात् वेदोपवेद विद्यायें, इन्हें केवल पढ़ना ही नहीं, किन्तु इनके अनुसार आचरण करना, इसका ही नाम ब्रह्मचर्य है। आठ से बारह वर्ष की अवस्था के भीतर पिता यज्ञोपवीत देकर बालक को गायत्री का उपदेश करे।

हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है कि:—

जन्मना जायते शूद्रः, संस्काराद्द्विज उच्यते।

—मनु०

अर्थ—जन्म से तो सभी शूद्र की संज्ञा में गिने जाते हैं, परन्तु द्विज होने के लिये संस्कारों की आवश्यकता होती है।

फिर वह विद्यार्थी बन कर गुरु के घर जाय, वहाँ अत्यन्त सादगी और पवित्रता से रह कर, कम से कम १२ वर्ष तक विद्या पढ़े और गुरु की सेवा करे। सेवा करने का मुख्य ध्येय यह है कि विद्यार्थी बालकपन ही से नम्रता और सादगी सीखे और ब्रह्मचारी को तो कुछ देहकष्ट भी सहना चाहिये, जिससे बड़े होने पर वह दुर्बल और आरामतलब न होकर परिश्रमी और बलवान् हो। उसे भिक्षा मांग कर पेट भरना चाहिये। गाँव में फिर कर उसे भिक्षा लाना और गुरु को उसे अर्पण कर उसकी आज्ञा से उसका उपयोग करना चाहिये। भिक्षा करने के कारण लोगों से नम्रतापूर्वक व्यवहार करना और अपनी जीविका स्वयं पैदा करना इत्यादि बातें ब्रह्मचारी सीख लेता था। लोग भी विद्या का आदर करते और विद्या के लिये सहायता करना सीखते थे। गुरु की शिष्य के जीवन पर देख-रेख भी रहती थी। इस आश्रम में रहना ऐसा आवश्यक था कि श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष भी गुरु के घर आकर ऐसी ही सादगी और देहकष्ट से रहे और विद्याध्ययन किया।

(२) जिसे सारा जीवन विद्या की सेवा में ही व्यतीत करने की इच्छा हो वह सदा ब्रह्मचर्याश्रम में ही रहे। जिस किसी का मन अत्यन्त वैराग्ययुक्त हो, वह ब्रह्मचर्याश्रम में से संन्यासी हो जाय, पर साधारण नियम यह है कि विद्याध्ययन समाप्त कर बीस वा चौबीस वर्ष की अवस्था में घर जाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। विवाह करना और घर

बना कर रहना, यही गृहस्थाश्रम है। इसका आधार स्त्री पर है, इसलिए स्त्री पर प्रेम रखना, यह इस आश्रम का पवित्र धर्म है। भगवान् मनु का कथन है कि जिस घर में स्त्री-पुरुष एक दूसरे से प्रसन्न हैं वहीं कल्याण है, और जहाँ स्त्री प्रसन्न है, वहाँ ईश्वर प्रसन्न है। इस आश्रम का दूसरा बड़ा धर्म 'दान' है। जिस आश्रम में धनोपार्जन का अधिकार है उसमें ही दान देने का कर्तव्य है। गृहस्थाश्रम में अपने अपने वर्ण के अनुसार हर एक मनुष्य को उद्योग कर कमाना और संसार का सुख भोगना चाहिये, पर दृष्टि सदा सदाचार और ईश्वर पर स्थिर रहनी चाहिये। इन बातों का स्मरण दिलाने के लिए पहले हर एक घर में 'अग्निहोत्र' रखने का रिवाज था, और पति-पत्नी साथ बैठ कर अग्नि में आहुति देते थे। पति-पत्नी दोनों ही 'दम्पति' कहलाते थे, 'द' अर्थात् घर उसके दोनों ही पति अर्थात् स्वामी थे। पुरुष स्वामी और स्त्री परिचारिका, यह 'दम्पति' का तात्पर्य नहीं। भगवान् मनु का कथन है कि आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि जैसे वायु पर सब प्राणियों के प्राण का आधार है वैसे ही गृहस्थाश्रम पर ही सब आश्रमों का आधार है। जैसे छोटी बड़ी नदियां समुद्र में जाकर आश्रय लेती हैं, वैसे सभी आश्रमियों का विश्राम गृहस्थाश्रमी के यहाँ है।

(६) गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम है। संसार का सुख भोगने के पश्चात घर का सारा प्रबन्ध पुत्रों पर

छोड़, चिन्तन और मनोनिग्रह करते हुए अपने ज्ञान से संसार को लाभ पहुंचाना, वन, उपवन में जाना और परमात्मा का चिन्तन करना, यही वानप्रस्थाश्रम का उद्देश्य है। ईश्वर के निरन्तर भजन के विचार से गृहस्थ घर-बार छोड़, यदि स्त्री की इच्छा हो तो उसे भी साथ लेकर, वनमें जाता है। वन में जाने का उद्देश्य यह है कि वहाँ फलमूल खाकर जीवन-निर्वाह करना पड़ता है और कुटुम्ब पर वह स्वयं भाररूप नहीं होता; पर विशेष कारण तो यह है कि वहाँ निरन्तर सृष्टि-लीला देखते हुए प्रभु का चिन्तन ठीक होता है। पूर्वकाल में तो सूर्यवंश के राजा लोग भी अपनी पत्नियों के साथ वानप्रस्थ लेते थे, किन्तु कालक्रम से देश में राजकीय प्रबन्ध घट जाने के कारण वानप्रस्थाश्रम लुप्त हो गया। जाड़ा और धूप सहन करना, प्राणीमात्र पर दया करना, उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होना, मन ईश्वर में लगाना, और अपना समय धार्मिक पुस्तकों के मनन में व्यतीत करना, ये ही इस आश्रम के मुख्य धर्म हैं।

(४) वानप्रस्थाश्रम में कुछ दुनियाँ के साथ सम्बन्ध रहता ही है, जैसे आश्रम बनाकर रहना, स्त्री के साथ वा अकेला रहकर ईश्वर का चिन्तन करना, और अतिथि आवे तो उसका सत्कार करना, तथा कितने ही व्रत, होम आदि करना। पर वानप्रस्थाश्रम के पश्चात् अन्तिम संन्यासाश्रम है। इस में समस्त कर्मों और सांसारिक सम्बन्धों का 'संन्यास' अर्थात्

पूर्ण रीति से त्याग करना पड़ता है। संन्यासी को एक बार भिक्षा मांग कर भोजन करना, निरन्तर परमात्मा का चिन्तन करना, एक ही ग्राम-शहर वा वन में पड़े न रहकर देशाटन करते रहना, और अपने पवित्र ज्ञान से जगत् का कल्याण करते रहना चाहिए। उसे क्रोध करने वाले के सामने क्रोध न करना चाहिए और जो गाली देता हो उससे कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए अर्थात् उसे सदा शान्त, दयावान्, क्षमाशील और परोपकारी होना चाहिये। ये ही संन्यासाश्रम के धर्म हैं।

❀

२५

संस्कार

उपनयन

सुखदेव—गुरुजी, आपने जो कल संस्कार गिनाये थे, वे ब्राह्मणों के ही हैं न?

गुरुजी—नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णों के हैं। ये तीनों वर्ण 'द्विज'—दो बार जन्म लेने वाले कहे जाते हैं। इनका पहला जन्म माता के पेट से और दूसरा उपनयन-संस्कार से माना जाता है।

हरिलाल—लेकिन आपने कहा था कि उपनयन-संस्कार गुरु के पास विद्या पढ़ने के लिये होता है। तो वास्तव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों के लोग पढ़ते होंगे ?

गुरुजी—हाँ, इतना ही नहीं, किन्तु बहुत प्रचीन काल में कन्याओं को भी यज्ञोपवीत दिया जाता था और उन्हें घर रखकर वेद पढ़ाये जाते थे। वे केवल गुरुजी के यहाँ न जातीं थीं और न भिक्षा मांगती थीं।

हरिलाल—गुरुजी, तो शूद्र के सिवा सभी लोगों को वेदों की शिक्षा मिलती होगी ?

गुरुजी—हाँ, ऐसी बहुत सी जातियां देखने में आती हैं जो आज कल शूद्र गिनी जाती हैं, किन्तु जो असल में क्षत्रिय वा वैश्य थीं। यदि इन सबको द्विजों में गिन लें तो तुम समझ सकोगे कि हिन्दुस्तान के कितने अधिक लोग द्विज थे और अनिवार्य उच्च शिक्षा का लाभ उठाते थे।

विचारचन्द्र—गुरुजी, असली शूद्रों को वेदों से क्यों अपढ़ रखा जाता था ?

गुरुजी—इस विषय की व्याख्या में जो कुछ मैं कहूँ, उसे सुनो, मूल शूद्र आर्य-जन-समाज के बाहर के अनार्य लोग थे। वे जैसे-जैसे आर्य लोगों के सम्पर्क से सुधरते गये, वैसे-वैसे वे आर्य-जन-समाज में शामिल किये गये। उनमें से कितनों ही को वेद और ब्रह्मविद्या का उपदेश मिला, यह बात तुम्हारे

जानने में है। जानश्रुति पौत्रायण का दृष्टान्त मैंने उस दिन सुनाया था, उसे याद करो। शूद्र लोग प्रायः वेद-मन्त्रों का ठीक ठीक उच्चारण नहीं कर सकते थे, इस कारण उन्हें वेद सिखाने में न आते थे। और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय में वेद का सीखना अधिकार की अपेक्षा विशेष रूप का कर्त्तव्य था, इस कारण जङ्गली दशा में से हाल ही में निकले हुए और बिलकुल दरिद्र वा अज्ञानी वर्ग पर वेद पढ़ने का भार रखना कदापि उचित न होता। फिर इस बात का विचार करना चाहिए कि आर्य लोग फैलते-फैलते कितनी तरह के न्यूनाधिक जङ्गलीपन रखने वाले अनार्य लोगों के साथ सम्बन्ध में आए होंगे, इन सब के सिर पर वेद-विद्या के पढ़ने का भार डालना क्या सम्भव था? किन्तु कालक्रम से वेद की संस्कृत भाषा में से लोक की संस्कृत भाषा बनी, और उसके साथ ही साथ शूद्र लोग भी अधिक आर्य बनते गए। इसलिए इस नई लोक-भाषा के द्वारा वेद की समस्त विद्या शूद्रों को पढ़ाई जाने लगीं। शूद्र के लिए वेदों की शिक्षा का निषेध है, यह मानना अनुचित है।

इस समय भी केवल सनातन-धर्म-सम्प्रदाय ही जन्म से वर्ण मानते हैं किन्तु आर्य-समाजी गुण-कर्म से तथा जन्म और कर्म दोनों से। क्षत्रिय-ब्राह्मण हो तो सोने में सुगन्ध। शूद्र तथा ब्राह्मण कर्म से हैं, यह महाभारत तथा बुद्ध के निम्न वचनों से सिद्ध है:—

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चश्च धम्मो च सो सुचि सो च ब्राह्मणो ॥

(धम्मपद २६ । ११)

न जटाभिर्न गोत्रैर्न जात्या भवति ब्राह्मणः ।
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः ॥

अनुवाद—न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से, ब्राह्मण होता है, जिसमें सत्य और धर्म है, वही शुचि (पवित्र) है और वही ब्राह्मण है।

भगवान् बुद्ध के इन वचनों में महाराज युधिष्ठिर के वचनों का अद्भुत साम्य है। वनपर्व में सर्प-योनि में आये हुये महाराज नहुष के प्रश्न करने पर महाराज युधिष्ठिर ब्राह्मण का लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो दया ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥

(महा. वन.)

हे सर्पराज ! सत्य, दान, क्षमा, शील, आनृशंस्य, तप और दया आदि सद्गुण जिस में हों वही ब्राह्मण है—शूद्र में

जो लक्षण होते हैं वे द्विज में नहीं होते। केवल जाति से ही शूद्र शूद्र और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं होता।

उपनिषदों में शूद्र की महिमा का उल्लेख स्थान स्थान पर आया है। किन्तु धर्म में कोई भेद नहीं अर्थात् सब भाई हैं और गुण-कर्म से बनते हैं। विवाह-सम्बन्ध में आर्य आदि नस्ल का ध्यान रखें, क्योंकि नस्ल की उपेक्षा करने से सन्तान गुण तथा शरीर से भी दुर्बल एवं शक्तिहीन बन जाती है। सिक्ख, जैन, बौद्ध ये तीनों तो सबका एक ही वर्ण मानते हैं।

यहाँ के एक-एक विश्वविद्यालय (गुरुकुल) में सहस्रों छात्रों को शिक्षा मिलती थी। जिस प्रधानाध्यापक के गुरुकुल में एक सहस्र से अधिक ब्रह्मचारी विद्याध्ययन किया करते थे, उस अध्यापक का नाम कुलपति होता था। अनुमानतः डेढ़ सहस्र वर्ष पहिले तक, इस बीच के युग में भी, नालन्दा और तक्षशिला जैसे अनेक स्थानों में प्रसिद्ध विश्वविद्यालय थे, जिन में दस-दस सहस्र ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करके लाभ उठाते थे।

सब लड़के यह भली-भांति समझ गये कि भारत में शिक्षा का प्रचार बहुत व्यापक था। इस प्रसङ्ग पर विचार के बाद उस दिन का काम शुरू हुआ।

गुरुजी—अब हम उपनयन-संस्कार की बात शुरू करें। उपनयन का नियम यह है कि गर्भ से वा जन्म से आठवें वा दशवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन होना चाहिये और ग्यारहवें

वर्ष में वैश्य का उपनयन होना चाहिये। ब्राह्मण से विद्योन्नति की सबसे अधिक आशा की जाती है, इसलिये उसका उपनयन-काल सबसे पहले आरम्भ होता है, और इसी रीति से वैश्य का सबसे देर में।

❀

२६

विवाह

तत्पश्चात् बारह वर्ष अथवा विद्या पूरी होने तक ब्रह्मचर्य पालन कर विद्यार्थी गुरु के घर रहता है। पढ़ने के विषयों में पहले 'वेद', वेद से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञ के रहस्य और विधि के ग्रन्थ, 'गाथा' अर्थात् महापुरुषसम्बन्धी काव्य, 'नाराशंसी' अर्थात् महापुरुषों की प्रशंसा की कविता, 'इतिहास' अर्थात् सच्ची घटनाओं का और बड़े पुरुषों के चरित्र का यथार्थ वर्णन और 'पुराण' सृष्टि से आरम्भ कर विविध युगों की कथायें—इतने विषयों में सामान्य रूप से शिक्षा हुआ करती थी, जिसके द्वारा विद्यार्थी को ईश्वर और धर्म का ज्ञान होता था तथा उसका हृदय उच्च और पराक्रमी बनता था। इन विषयों के कितने ही अंश तो ब्राह्मण ही मुख्यतया पढ़ते होंगे, कितने ही विषयों पर क्षत्रिय और कितनों ही पर वैश्य विशेष ध्यान देते होंगे। इसके

अतिरिक्त धनुर्विद्या, शिल्पशिक्षा इत्यादि जुदे-जुदे वर्णों के लिए कितने ही विशेष विषय होते थे।

विद्याध्ययन के समाप्त होने पर समावर्तन कर अर्थात् वापिस आकर विवाह करना चाहिये। विवाह की विधि में कन्या के माता-पिता को वरपक्ष से कुछ भी न लेना चाहिये, यदि वे कुछ लें तो कन्याविक्रय का (लड़की बेचने का) पाप उन्हें लगता है। यह हमारे आर्य्यधर्म का बड़ा नियम है। **कुटुम्ब पापी वा रोगी मनुष्यों का न हो,** यह पहले देख लेना आवश्यक है। विद्वान् को ही कन्या देना यह दूसरा नियम है और कन्या में बुद्धि, शील (चरित्र) और शुभ लक्षण इत्यादि गुण होने चाहियें। विवाह की विधि में निम्नलिखित बातें हुआ करती हैं। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन कर वर आता है और कन्या के मां-बाप से कन्या के लिये प्रार्थना करता है। कन्या के मां-बाप उसका मधुपर्क (मधु, घी आदि अतिथि-सत्कार की वस्तुओं) से सत्कार करते हैं। फिर वे 'गार्हपत्य' घर की अधि-देवता रूपी अग्नि की स्थापना कर वर की दाहिनी ओर कन्या को बैठाते हैं। फिर वर कन्या का कर-ग्रहण करता है, "मैं तेरा हाथ पकड़ता हूँ, तुझे अच्छी सन्तान हो और मेरे साथ तू भी दीर्घायु हो, अर्यमा-सविता और पुरन्धि इन देवताओं ने तुझे गृहस्थाश्रम चलाने के लिये मुझे दिया है, तेरी शुभ दृष्टि हो, पति की तुझसे कोई हानि न हो, पशुओं का तुझ से कल्याण हो। तू सुन्दर मन वाली और सुन्दर तेजवाली हो, तुझे जीवित पुत्र हो

और वे वीर बनें, तुझसे सब को सुख हो, मनुष्य और पशुओं का तुझ से कल्याण हो !"

फिर वर कन्या से अग्नि में होम कराता है, उस समय वह कहती है—"मेरे पति दीर्घायु हों और मेरे सगे सम्बन्धी सुखी हों !" फिर अग्नि के पास 'सप्तपदी' अर्थात् वर कन्या के साथ-साथ चलने की विधि होती है। इस में अन्न, जल, व्रत, सुख, पशु, लक्ष्मी और विद्या तेरे साथ आवें, इस प्रकार वर क्रम से एक-एक वस्तु मांगता है और सातवां पैर रखते ही वह कहता है—"हम दोनों अब सात पैर चलने वाले मित्र हुए, मेरी तेरी मित्रता हो, मैं तेरी मैत्री से छूटूं नहीं और मेरी मैत्री से तू न छूटे।" पीछे पत्नी पति के घर जाती है।

विवाह की यह विधि तो प्रधान है, किन्तु इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार के विवाहों की विधियां स्मृति-ग्रन्थों में पाई जाती हैं, जो उन ग्रन्थों के देखने से जानी जा सकती हैं।

२७

पञ्च महायज्ञ

वसन्त—गुरुजी, आपने कल उपनयन और विवाह का जो वर्णन किया था वह हमें बहुत ही अच्छा लगा। क्रियाओं में से हम दो एक सार की बातें समझे हैं जो कदाचित् सत्य हों—एक तो गुरु के साथ विद्यार्थी को एक मन होकर-अध्ययन करना, और दूसरी पति-पत्नी को एक दूसरे का मित्र, एक घर के दो इकट्ठे मालिक होकर रहना तथा गृहस्थाश्रम का सुख भोगना।

गुरुजी—ठीक है। किन्तु गृहस्थाश्रम के विषय में एक बात विशेष रूप से समझने की जरूरत है। वह यह है कि गृहस्थाश्रम केवल सुख भोगने के लिये नहीं, किन्तु अग्नि की साक्षी में अर्थात् ईश्वर को साक्षी समझ कर गृहस्थाश्रम के कर्तव्य करने के लिए है। उन कर्तव्यों का स्मरण रखने के लिए हर एक गृहस्थाश्री को 'पञ्च महायज्ञ' करने की आज्ञा है। ये यज्ञ बड़े महत्व के हैं, और यद्यपि इनकी क्रियाएं बहुत सरल हैं, तो भी गृहस्थाश्रम में इनका महत्व इतना अधिक है कि ये महायज्ञ कहलाते हैं। वे महायज्ञ ये हैं—(१) देवयज्ञ, (२) पितृयज्ञ, (३) ब्रह्मयज्ञ, (४) भूतयज्ञ और (५) मनुष्य यज्ञ।

देवयज्ञ—अर्थात् देवता का पूजन। इस पूजन में प्राचीन से प्राचीन अग्नि-पूजा और सूर्य-पूजा है। अग्नि-पूजा में अग्नि की स्तुति कर अग्नि में आहुति दी जाती है, और सूर्य-पूजा हमारी सन्ध्या है। प्रातःकाल, मध्यान्ह और सायंकाल, इन तीनों समय सन्ध्या करने की आज्ञा है। इसमें स्नान कर, धुला वस्त्र पहिन, पूर्व दिशा में बैठ, पहले भस्म लगाना चाहिये, फिर शिखा बांध शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों और इन्द्रियों में बल और प्रभु के वास की परमात्मा से प्रार्थना की जाती है, तथा प्राणायाम (श्वासोच्छ्वास के रोकने से) प्राण और आत्मा वश में किये जाते हैं। फिर संध्या का मुख्य काम शुरू होता है। उसमें पहले मार्जन, फिर अघमर्षण, फिर अर्घप्रदान, फिर उपस्थान और अन्त में गायत्री जप होता है। देह पर जल के छींटे डाल कर देह की शुद्धि करना मार्जन कहलाता है। फिर अघमर्षण में अर्थात् पापों के क्षमा कराने की विधि में सूंघ कर फेंक दिया जाता है। यह विधि इस लिये है कि एकबार सूंघा हुआ पाप यदि सचमुच फेंक दिया जाय तो उसकी क्षमा ईश्वर से अवश्य मिलती है। फिर अर्घप्रदान में गायत्री मन्त्र पढ़कर सूर्य को जल की तीन अञ्जलियां दी जाती हैं। तत्पश्चात् सूर्य नारायण की सेवा में मानों तत्पर हाथ सूर्य को दिखाकर स्तुति की जाती है। इस स्तुति का मुख्य अभिप्राय यह है कि सूर्य, जो सब देवताओं का नेत्र है, अपने तेज से आकाश, पृथ्वी और अन्तरिक्ष को परिपूर्ण कर रहा है, और स्थावर जंगम सभी

भी वह आत्मा है। अन्त में गायत्री मन्त्र का जप किया जाता है। इसमें पृथ्वी (भूः), अन्तरिक्ष (भुवः) और स्वर्ग (स्वः) इस प्रकार तीनों लोकों का स्मरण कर, फिर वह गायत्री यथाशक्ति १०८ अथवा अधिक बार स्थिरचित्त से जपनी चाहिए। गायत्री का अर्थ है:—'उस परमात्मा सविता देव का तेज—जो प्रेम से प्रार्थना करने योग्य है—उसका हम ध्यान करते हैं—जो देव हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे !'

मैंने तुमसे एक बार कहा था कि वेद के समय की अग्नि-पूजा आजकल की शिवपूजा में परिणत हो गयी है—अग्नि की बेदी जलधारी है, उसकी ज्वाला शिवलिंग है, ज्वाला के अन्तर्गत धुआं शिव की जटा है, अग्नि में होम करने की घी की धार शिव लिंग पर जल का अभिषेक है, और 'अग्नि को ही महादेव' कह कर 'वृषभ' की उपमा दी गयी है, उसके कारण महादेव के सामने नन्दी की स्थापना की जाती है, और लोग शिवजी के प्रसादरूप से भस्म लगाते हैं। इस प्रकार अग्नि के स्थान में शिवजी की पूजा का आरम्भ हुआ और इसी प्रकार सूर्य के स्थान में विष्णु की पूजा होने लगी। विष्णु तो पहले ही से एक आदित्य रूप से प्रसिद्ध थे, इस कारण विष्णु सूर्य के स्थानापन्न सरल रीति से हो गये। रक्षा करना भगवान् विष्णु का काम है, इस कारण उसके अवतार हुए, और उसकी भक्ति से ही राम कृष्ण आदि की उपासना और सम्प्रदाय चले। जो कट्टर वैष्णव वा शैव होते हैं वे या तो केवल विष्णु की—राम अथवा

कृष्ण की—मूर्ति की वा केवल शिव, पार्वती और उनके पुत्र गणपति ही की पूजा किया करते हैं। किन्तु हिन्दुओं का बड़ा वर्ग जो एक ही सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं है, शिव और विष्णु दोनों को एक मानता है, तथा शिव, विष्णु, सूर्य, गणपति और अम्बिका (माता) इस 'पञ्चायतन' की पूजा करता है। ईश्वर एक ही है किन्तु पांच जगह प्रकट होने के कारण उसे पांच भिन्न-भिन्न नाम प्राप्त होते हैं। इस कारण वे पञ्चदेव न कहलाकर 'पञ्च-आयतन' कहे जाते हैं। हर एक ब्राह्मण को सन्ध्या करने में सूर्यरूप से परमेश्वर का ध्यान करना पड़ता है, इसलिये पञ्चायतन में एक तो सूर्य है, दूसरे दो—शिव और विष्णु हैं—'शिव' यह सुखमय मंगलमय परमेश्वर का नाम है, और 'विष्णु' यह उस सर्वव्यापक प्रभु का नाम है, जो इस सृष्टि की रक्षा के लिये अवतार लेते हैं, चौथे उसी एक परमात्मा का ही नाम 'गणपति' है, जो सब विघ्नों का नाश करते हैं तथा विद्या के देवता हैं, और पांचवीं 'अम्बिका' अर्थात् माताजी हैं। वे परमेश्वर की शक्ति हैं, उनमें से यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। अतएव सब मिलकर कहो कि जगत् के माता-पिता पार्वती-परमेश्वर को हमारा नमस्कार है–**जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ !** (सब मिलकर एक स्वर से कहते हैं)

आजकल बहुत से प्राचीन पन्थ के हिन्दुओं में भी यह एक देवयज्ञ ही रहा है, लेकिन इसके सिवाय ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, आदि भी कुछ कम महत्व के नहीं हैं।

ब्रह्मयज्ञ—वेद पढ़ना ही ब्रह्मयज्ञ है। इस में वेद की सामान्य रचना का और उसके कितने ही मन्त्रों का नित्य स्मरण करने में आता है।

पितृयज्ञ—इसमें परलोकगत माता पिता और दूसरे सगे-सम्बन्धियों का स्मरण कर उन्हें जलको अञ्जलियां दी जाया करती हैं। इसे तर्पण कहते हैं। इसी रीति से देवता और ऋषियों के भिन्न-भिन्न नाम लेकर भी तर्पण किया जाता है। अपने पूर्वजों और बड़े ऋषियों को देववत समझ कर उनका मान करना तथा सदा स्मरण रखना ही इस विधि का मुख्य हेतु है।

भूतयज्ञ—प्राणीमात्र का भला चाह कर उन्हें भी अपने अन्न में से भाग देना यह भूत यज्ञ है। गृहस्थ मनुष्य 'वैश्वदेव' में ठेठ चींटी पर्यन्त के प्राणियों के लिये अग्नि के सामने भातका बलिदान रखता है और फिर घर के बाहर जाकर पशु-पक्षी और कीट अर्थात् प्राणीमात्र को रोटी भात आदि डालता है। यों तो हिन्दू (आर्य) गृहस्थ के लिये प्राणीमात्र के निमित्त अपने अन्न में से विभाग निकालने की आज्ञा है, किन्तु उसके लिये गोरक्षा का विशेष माहात्म्य हमारे शास्त्रों में कहा गया है। यजुर्वेद में चलते ही पहिले मन्त्र में "गाव अघ्न्याः" बतायी गयी है। इसका अर्थ यह है कि गौओं को तो सर्वदा ही पालने और उनकी रक्षा करने की आज्ञा दी गई है। किसी भी कारण गोहिंसा महापातक माना गया है। गौ एक ऐसा प्राणी

है, जिससे मनुष्य को लाभ ही लाभ पहुँचता है। जैसा गोघृत गुणकारी है, वैसा अन्य पशुओं का नहीं। गौ की महिमा कहाँ तक वर्णन की जाय, इसके गोबर, मूत्र तक अनेक रोगों के जन्तुओं को मारने में परोपकारी हैं। आयुर्वेद में इन चीजों के अनेक गुण लिखे गये हैं। हमारी खेती तथा अन्य कामों के लिये जैसे बैल उपयोगी हैं, वैसे अन्य पशु नहीं।

गौ साक्षात् क्षमा, शान्ति तथा परोपकार की मूर्ति है। इसलिये हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों के मनुष्य कृतज्ञतावश गोरक्षा के प्रति आदर और प्रेम करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। आर्थिक दृष्टि से भी गौ एक बड़ा उपयोगी पशु है। क्योंकि भैंस आदि अन्य दूध देने वाले पशुओं की अपेक्षा इस पर कम खर्च करना पड़ता है और लाभ अधिक होता है।

मनुष्य-यज्ञ—यह अतिथि-सत्कार है। गृहस्थ को हमेशा भोजन के पहिले यदि कोई अतिथि आया हो तो उसका सत्कार कर और उसको खिलाकर स्वयं खाना चाहिये।

इस अतिथि-सत्कार को साधारण मिहमानदारी न समझना चाहिये। कोई भी भूखा-प्यासा अन्न जल मांगता हुआ आवे तो उसे उन वस्तुओं को देना ही मनुष्य-यज्ञ में गिना जाता है। बालकों! तुमने रन्तिदेव राजा की कथा सुनी है?

कान्तिलाल—हमने नहीं सुनी है, कृपया कहिये।

गुरुजी—तो सुनो, बात तो छोटी है, लेकिन खूब याद रखने योग्य है। पूर्वकाल में रन्तिदेव नाम का एक राजा

था। उसने बड़े-बड़े यज्ञ कर उन यज्ञों में अपना सब धन ब्राह्मणों को दे डाला था। एक दिन वैश्वदेव करके कोई अतिथि आया है, यह देखने वह बाहर गया और वहाँ उसने चिल्लाकर पूछा कि कोई भूखा-प्यासा है? वहाँ एक चाण्डाल पड़ा हुआ था; वह खड़ा होकर कांपता-लथड़ता राजा के पास आया और कुछ खाने को मांगा। राजा के घर में थोड़ा ही खाने को रहा था, तो भी उसने उसे उस भिखारी को दे दिया और स्वयं अन्न बिना खाये घर में थोड़ा पानी था, उसे ही पीकर दिन काटने का विचार किया। इधर भिखारी ने रोटी खाकर पानी मांगा। वह भी उसने दिया। अब अपने प्राण धारण करने का भी साधन न रहा। वे भिखारी जो चाण्डाल के रूप में आये हुये स्वयं धर्मराज थे, उसके सामने प्रकट हुए और राजा से कहा मैं तेरा परोपकार देख बहुत प्रसन्न हूँ—मांग. जो मांगेगा वही वरदान दूंगा। उस समय राजा का दिया हुआ उत्तर सुनने योग्य है। राजा ने कहा—"धर्मराज! जो तुम मुझ पर प्रसन्न हुए हो और वरदान मांगने को कहते हो तो मैं इतनी बात मांगता हूँ कि मुझे स्वर्ग न चाहिये, मोक्ष न चाहिये, मुझे तो इतना चाहिये कि जो प्राणी दुःखी हों उनके अन्दर रहकर उनका दुःख भोगूं।"

धर्म-शिक्षण की सारी कक्षा इस मनोहर कथा को सुन स्तब्ध हो गई। फिर उनमें से एक बालक ने पूछा:—

रमाकान्त—गुरुजी, धर्मराज ने चण्डाल का वेश किस रीति से लिया होगा ?

गुरुजी—धर्मराज ने चण्डाल का वेश धारण किया और अन्न-पानी मांगा, इसका अर्थ यही है कि इस चण्डाल ने जो अन्न-पानी मागा वह धर्म ही ने मांगा था। धर्म ही हमें कहता है कि नीच से नीच श्रेणी का मनुष्य भी यदि भूखा-प्यासा हो और हमारे पास अन्न-जल मांगने आवे तो हमें उसे देना ही चाहिए, अर्थात् देना ही हमारा धर्म है।

❀

२८

श्राद्ध

आश्विन मास का यह कृष्णपक्ष है, इस में हिन्दू गृहस्थ श्राद्ध किया करते हैं।

गुरुजी—क्या तुम श्राद्ध का अर्थ समझते हो ?

बालक—श्राद्ध का अर्थ सरस भोजन करना है।

गुरुजी—(हंसकर) श्राद्ध का अर्थ जीमन नहीं। हमारे बड़े प्राचीन रिवाजों के गूढ़ अर्थ को तो लोग भूल गये हैं और उनके केवल बाहरी आडम्बरमात्र का अनुसरण करने लगे हैं। श्राद्ध के विषय में भी ऐसा ही हुआ है। हम जैसे देवताओं की

पूजा करते हैं, उसी रीति से हम अपने पूर्वजों का, स्वर्गस्थ मां-बाप और दूसरे सगे-सम्बन्धियों का स्मरण कर, मानो वे जीवित ही हैं इस भांति विचार कर, उन का पूजन करते हैं। इसी का नाम श्राद्ध है। जो श्रद्धा से किया जाय, वही श्राद्ध कहलाता है। श्रद्धा का अर्थ विश्वास है। यदि वे स्वर्ग में भी हैं तो भी हमें भूलें नहीं, और इसलिए हमें भी उन्हें भूलना न चाहिये—यही श्राद्ध का तात्पर्य है। अतएव हमारे शास्त्रकारों ने उनके स्मरण करने के लिये कुछ दिन नियत कर दिये हैं। वास्तव में तो हर एक महीने में श्राद्ध करने का रिवाज था, किन्तु इस मासिक श्राद्ध के कुछ दुष्कर होने के कारण अब केवल वर्ष में एकवार मरणतिथि के दिन तथा आश्विन के पितृपक्ष में तिथि के अनुसार एक दिन श्राद्ध करने की प्रथा पड़ गयी है।

शंकर—गुरुजी ! यह रीति बहुत अच्छी है, इससे हम अपने सगे-सम्बन्धियों को कभी न भूलेंगे।

गुरुजी—और उन्हें जो अच्छा न लगे उस काम के करने से हमें शरमाना चाहिये, क्योंकि हमारे शुभ कर्मों से वे प्रसन्न होते हैं और खोटे कर्मों से दुःखी होते हैं। अपने पूर्वजों पर भक्ति रखना और उन्हें स्मरण कर उनके सदृश पराक्रमी होना तथा जो हमारे प्राचीन पूर्वजों में बड़े-बड़े ऋषि, तपस्वी और ग्रन्थकार हो गये हैं उनके नाम का भी स्मरण करना इत्यादि हमारे शास्त्र की विधि है, इसलिए नित्य तर्पण के साथ-साथ ऋषि-तर्पण और पितृ-तर्पण करने का आदेश है।

पहले पञ्च-महायज्ञ में पितृयज्ञ के विषय में कह चुका हूँ। तर्पण का अर्थ तृप्त करना वा प्रसन्न करना है। जिससे पितृ लोग प्रसन्न हों वैसे ही आचरण करना, यही तर्पण का गूढ़ अर्थ है। वह जल की अञ्जलि देकर किया जाता है। अपने पूर्वजों से हम अपना सम्बन्ध सदा अविच्छिन्न रखें, यही इस क्रिया का प्रयोजन है।

उमापति—महाराज, क्या ऐसी रीतियां पृथ्वी की दूसरी प्रजाओं में भी हैं?

गुरुजी—हां, ईरान, रोम आदि अनेक प्राचीन प्रजाओं में भी यह रीति थी। यह पारसियों में अब तक है और जापान में भी है। कुछ समय पहले रूस और जापान का युद्ध हुआ था, उसमें जापानवासी यह माना करते थे कि उनके बाप-दादे अभी जीवित हैं और उनकी ओर से युद्ध में लड़ रहे हैं।

❀

२९

व्रत, उत्सव और यात्रा

कुछ दिन हुए प्रयाग में कुम्भ—मेला होने का समाचार प्रकाशित हुआ था । अभी संयुक्तप्रान्त में महाशिवरात्रि के उत्सव पर काशी विश्वेश्वर के दर्शनार्थ जाने वाले लोगों के लिये विशेष ट्रेनें चली थीं, यह समाचार पढ़ा है । होली के त्यौहार के समीप होने के कारण, 'होली-संशोधक-मण्डली' की ओर से किये जाने वाले काम का समाचार पत्रों में आज ही प्रकाशित हुआ है । अतएव गुरुजी ने हिन्दूधर्म के व्रत, उत्सव और यात्रा सम्बन्धी कुछ परिचय लड़कों को देने का विचार किया । इतने में बसन्त पूछ बैठा—गुरुजी, आपने जो महायज्ञ बतलाये उनके अतिरिक्त दूसरे महायज्ञ भी हमने रामायण और महाभारत में पढ़े हैं । रामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ किया था और युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था । क्या ये सब महायज्ञ नहीं ?

गुरुजी–बहुत लोग इसमें भाग लेते हैं और ये बहुत दिन तक चलते हैं, इस कारण ये महायज्ञ कहे जाते हैं । किन्तु ईश्वर की भक्ति करना, विद्या पढ़ना, पूर्वजों को स्मरण रखना, भूखे-प्यासों को अन्न-जल देना और प्राणिमात्र के प्रति दया रखना अथवा उन्हें पालना—ये पांच तो हर एक आदमी को करने ही चाहिए और ये बहुत ही आवश्यक हैं, अतएव महायज्ञ हैं ।

चुन्नीलाल—गुरुजी, क्या इन दो तरह के यज्ञों के सिवा तीसरी तरह के भी कुछ यज्ञ होते हैं ?

गुरुजी—हाँ, हर एक ऋतु में करने के यज्ञ हैं।

सत्यदेव—अब तो इन्हें कोई करता नहीं।

गुरुजी—करते हैं। जैसे अग्निपूजा में से शिवपूजा निकली और इसी प्रकार वैदिक धर्म के बाहरी आकार में दूसरे बहुत फेरफार हुए, वैसे ही इस धर्म के प्राचीन यज्ञों ने भी नवीन रूप धारण कर लिया है। तुमने नवरात्र के दिनों में जौ बोये थे और दुर्गा माता के आगे होम किया था, वह उस समय का यज्ञ था जब वर्षा ऋतु का अन्त और शरद् ऋतु का आरम्भ हुआ था। इसी प्रकार अब थोड़े दिन बाद तुम होली जलाकर उसमें नये आम का मौर, गेहूँ की बालें आदि होम करोगे, यह क्या है ? यह बसन्त ऋतु का यज्ञ है। इन सब यज्ञों का तात्पर्य यह है कि प्रभु-कृपा से इस जगत् में हमें जो जो अच्छे पदार्थ मिलते हैं, उन्हें प्रभु को समर्पण कर हमें काम में लेना उचित है। इन यज्ञों को यदि हम सब मिल कर करें तो ये उत्सव बन जाते हैं। हमारे सब उत्सव इस रीति से अमुक ऋतु के यज्ञ में से अथवा अमुक देवता के यज्ञ में से उत्पन्न हुए हैं। इसके सिवा यज्ञ करने वाले को पवित्रता से इन्द्रियों और मन को वश में करने के कितने ही नियम पालन करने होते हैं। उन नियमों को 'व्रत' कहते हैं, जैसे अमुक समय तक न खाना—केवल फलमात्र खाकर रहना—जिससे

कि स्थूल शरीर वश में रहे, इन्द्रिय और मन पवित्रता के मार्ग में चलें। सोमप्रदोष, एकादशी, शिवरात्रि आदि उपवास मन और इन्द्रियों को वश में कर, ईश्वर का भजन और पूजन करने के लिए ही होते हैं। हिन्दू-धर्म की पुस्तकों और लोक-रूढ़ि में तीर्थ-यात्रा की बड़ी महिमा है। इस प्रकार की ईश्वर-भक्ति बड़े उत्कट प्रेम से करनी चाहिये। जहाँ नदी, पर्वत, वन आदि स्थलों में प्रभु की ललित लीलायें विशेष रूप से दृष्टि-गोचर हों, उन स्थलों में जाना शास्त्र में कहा गया है। हिमालय से गङ्गाजी निकलती हैं। आगे चल कर गङ्गाजी के साथ यमुना मिलती हैं, और आगे चलकर गङ्गा-यमुना का मिला हुआ जल लहराता लहराता एक स्थल पर दिशा बदलता है, और उसके साथ दूसरी छोटी नदियां मिलती हैं। ये दृश्य बहुत भव्य और रमणीक होते हैं। इस कारण गङ्गाद्वार, बदरिकाश्रम, हरिद्वार, प्रयाग, काशी आदि यात्रा के स्थान बने हैं। इसी प्रकार जहाँ पर राम, कृष्ण, व्यास आदि महापुरुष बसे कहे जाते हैं, वे स्थल भी इन महापुरुषों के सम्बन्ध से बड़ी महिमा के गिने जाते हैं, जैसे मथुरा, द्वारिका आदि नगरियां तथा नर्बदा, गोदावरी आदि नदियों के किनारों के तीर्थस्थान।

यात्रा से बड़ा भारी लाभ यह है कि भिन्न-भिन्न देश और मनुष्यों के समागम और महात्माओं के सत्संग से ज्ञान और प्रेम की वृद्धि होती है। तीर्थों की यात्रा का यही तात्पर्य है।

❀

३०

सामान्य धर्म

पहले दिन गुरुजी ने यह कहा था कि कल धर्मशिक्षण की कक्षा पाठशाला के मकान में होगी। तदनुसार दूसरे दिन स्कूल खुलते ही विद्यार्थीगण क्या देखते हैं कि धर्मशिक्षण के विशाल भवन के द्वार पर और अन्दर की दीवारों पर सुन्दर शिलालेख लग रहें हैं। उनमें सीधे, मरोड़दार, तरह-तरह के रंगबिरंगे और सुन्दर बेल से अलंकृत अक्षरों में हिन्दू-धर्मकी पुस्तकों में से अच्छे-अच्छे वचन (हिन्दी-भाषा अनुवाद सहित) उद्धृत थे। प्रविष्ट होते ही ड्योढ़ी की मेहराव पर यह लिखा था:—

यतो धर्मस्ततो जयः ।

'जहाँ धर्म वहाँ जय' यह बड़े सुनहरे अक्षरों में लिखा हुआ था और उस के नीचे इस तरह लेख था:—

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत मानृतम् ।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम् ॥

धर्म करो, अधर्म मत करो; सत्य बोलो, असत्य न बोलो; दीर्घ दृष्टि रखो, संकुचित दृष्टि न रखो; दृष्टि ऊंची रखो, नीचे न रखो अर्थात् उदारता रखो !

फिर अन्दर आते हुए सामने की भीत पर यह लिखा था—

सत्यं वद धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमद ।

(तैत्ति० उप० १ । ११ । १)

सच बोल, धर्म कर, अपने विद्याभ्यास में त्रुटि न कर।

अनुद्वेगकरं वाक्य सत्यं प्रियहितं च यत् ।

(गीता अ० १७ श्लो० १५)

वाक्य जो बोला जाय, वह किसी को उच्चाटन (उद्वेग) करने वाला न हो, साथ ही सत्य, मीठा और हितकारी हो।

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेच्छा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत न होना अर्थात् मनोनिग्रह और प्राणी-मात्र के प्रिय और हित की इच्छा करना, यह सब वर्णों का धर्म है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥

(मनुस्मृति १० । ६३)

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता रखना, इन्द्रियों को वश में करना, यह चारों वर्णों का साधारण धर्म मनुजी ने बतलाया है।

इसके सामने दीवार पर बड़ा शिलालेख है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥

(*मनुस्मृति अ० २।१*)

जो विद्वान् सत्पुरुष हों और सदा रागद्वेष से मुक्त हों, वे जिस धर्म का सेवन करते हों और जो हृदय से पसन्द हुआ हो उसे धर्म समझो।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

धर्म का सार सुनो और सुनकर हृदय में धारण करो। वह यह है कि जो हमें अपने लिये अनुकूल न हो वह दूसरों के लिये न करना चाहिये।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम् ॥

(*भागवत*)

आधे श्लोक में मैं तुम्हें वह बात कहूँगा जो करोड़ों ग्रन्थों में कही गयी है। और वह यह है कि दूसरे का उपकार करना पुण्य है और दूसरे को पीड़ा देना पाप है।

दूसरी दो दीवारों पर आमने-सामने लेख थे। एक में यह खुदा हुआ था—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

(भगवद् गीता १६।५)

दैवी-सम्पत् (गुण-वृति) मोक्ष देती है, आसुरी-सम्पत् बन्धन उत्पन्न करती है, और इसके सामने लड़कों की सदा दृष्टि रहे, इस प्रकार से एक निम्नलिखित श्लोक गहरे रङ्ग से अंकित था—

आदित्यचंद्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मोऽपि जानाति नरस्य वृत्तम्॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, नियन्ता, दिन, रात्रि, प्रभात और सांयकाल तथा धर्म स्वयं ही मनुष्य के आचारण को जानते हैं।

बालक इन सब को पढ़ते हैं। इतने में कुछ देर बाद पाठशाला का घण्टा बजा और धर्मशिक्षण की कक्षा आकर इकट्ठी हुई। गुरुजी आये, सबने नमस्कार किया और शिक्षण का काम आरम्भ हुआ।

गुरुजी—बालकों, क्या तुम्हें सजाया हुआ यह भवन अच्छा लगता है ?

बसन्त—जी हां, बहुत सुन्दर लगता है। हमेशा इस प्रकार से ही रखा जाय तो कितना अच्छा हो।

गुरुजी—अच्छा, ऐसा ही रखेंगे, पर साथ ही साथ तुम भी शाला पर खुदे हुए वाक्यों को अपने मनमें अंकित रखना।

रमाकांत—गुरुजी, इन्हें हम बार-बार पढ़ेंगे और याद रखेंगे। हमें ये बहुत पसन्द हैं। किसने इन शिलाओं पर श्लोक खोदकर लिखे हैं ?

गुरुजी—मुरारी नामक एक चित्रकार ने इन्हें लिखा है

विचारचन्द्र—गुरुजी, मैं उसे जानता हूँ। मेरे घर से वह थोड़ी ही दूर रहता है। वह बहुत अच्छा आदमी है।

गुरुजी—वह मनुष्य बहुत अच्छा है वा चित्रकार बहुत अच्छा है ?

विचारचन्द्र—गुरुजी, वह आदमी बहुत अच्छा है, इसे तो हम नेत्र ही से देख रहे हैं ?

गुरुजी—अच्छा, वह चित्रकार का काम तो अच्छा करता है, किन्तु वह दारु पीकर पड़ा रहता है और काम समय पर करके नहीं देता, सागवान के तख्ते कहकर देवदार के तख्ते लगाता है और अपनी मिहनत के अनुसार दाम न लेकर हमें धोखा देता है—भला ऐसे आदमी को हम कैसा कहें।

विचारचन्द्र—वह चितेरा चाहे जैसा हो, पर आदमी खराब है।

गुरुजी—अच्छा, तो एक बात सब ध्यान में रखो कि मनुष्य के अपने विशेष धन्धे की जानकारी के अलावा हर एक मनुष्य को मनुष्य बनने के लिये कितने सामान्य रीति के गुण सीखने चाहियें। इन गुणों को हिन्दू धर्म-शास्त्रों ने

'सार्ववर्णिक' अर्थात् सब वर्णों के सामान्य धर्म बतलाये हैं। विशेषधर्म—अमुक वर्ण के विशेष धर्म चाहे जितने हम क्यों न पालें, पर सामान्य धर्म के बिना वे निरर्थक हैं।

वे धर्म उस भीत की पट्टियों पर लिखे हुए हैं जिन्हें तुम ने पढ़ा होगा।

रमाकान्त—हां महाराज, इनमें जिस श्लोक में धर्म और अधर्म की व्याख्या दी गई है वह मुझे बहुत पसन्द है:—

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम् ॥

(*भागवत*)

दूसरे का उपकार करना ही पुण्य है, और दूसरे को पीड़ा देना ही पाप है।

अप्रतीतो जयति सं धनानि प्रतिजन्यान्युत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः।

(ऋग्वेद ४ । ५० । ९)

जो (अ-प्रति इतः) पीछे नहीं हटता वह पुरुषार्थी मनुष्य ही (जयति) विजय प्राप्त कर सकता है। वही (प्रतिजन्यानि) व्यक्ति विषयक तथा (सजन्या) समूह अथवा समाजविषयक (धनानि) धनों को (संजयति) विजय से प्राप्त करता है।

वेद में उन्नति का मूल पुरुषार्थ है

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ।

(ऋ० ४। ३३। ११)

"(श्रान्तस्य ऋते) परिश्रम करने के बिना (देवाः) देव (सख्याय न) मित्रता नहीं करते ।" अर्थात् जो परिश्रम करता है उसी की समृद्धि, उन्नति और वृद्धि होती है। जो पुरुषार्थ नहीं करता उसकी उन्नति नहीं हो सकती है।

व्यायाम करने से शरीर के अवयव पुष्ट होते हैं, और दमन करने से इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है, एकाग्रता का अभ्यास करने से मन का सामर्थ्य वृद्धिगत होता है; अर्थात् अपने शरीर के इन्द्रियरुपी देव भी उसी समय सहायता करते हैं, जिस समय कि इन्द्रियों के द्वारा उत्साहपूर्वक प्रबल प्रयत्न होता है। जो सुस्ती से बैठेगा उसके अङ्ग वैसे सुडोल नहीं बनते जैसे व्यायाम करने वालों के बनते हैं।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेहि ।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि ।

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि ।
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥

(यजुर्वेद १९ । ९)

'हे परमात्मन् ! तू तेजस्वी है, मुझ में तेज स्थापन कर; तू वीर्यवान् है, मुझ में वीर्य स्थापन कर; तू बलवान् है, मुझ में बल स्थापन कर; तू उत्साहमय है, मुझ में उत्साह स्थापन कर; तू सहनशक्ति से युक्त है, मुझ में श्रम सहन करने की शक्ति स्थापित कर।' यह वैदिक प्रार्थना है।

रक्षा मा किंनो अघशंस ईशत
यो नो दुःशंस ईशत ॥
मा नो अद्य गवां स्तेनो माऽवीनां वृक ईशत ॥

(अथर्ववेद १९ । ४ । ७ । ६)

(Let not a malicious, spiteful, illwisher master us) (किं अघशंसः) कोई भी पापी दुष्ट हम सब पर शासन न करे। कोई दुराचारी हमारे पर आज्ञा न चलावे।

यो नः सोम सुशंसिनो दुशंस आदिदेशति ।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥

(अथर्ववेद ६ । ६ । २)

"(यः दुशंसः) जो दुष्ट मनुष्य (सु शंसिनः नः) उत्तम विचारों से युक्त रहने वाले हम सब को (आदिदेशति) आदेश

करने लगेगा, (अस्य मुखे वज्रेण जहि) उसके सिर पर शस्त्र चलाओ, (संपिष्टः स अपायति) चूर्ण होने से ही वह दूर होता है।"

जो दुर्जन सज्जनों को अपने अधीन रखता है और इस प्रकार सज्जनों को कष्ट पहुँचाता है, वह वधदण्ड के योग्य है।

अजिताः स्याम शरदः शतम् ॥

(तै० आ० ४।४२।५)

अदीनाः स्याम शरदः शतम्॥

(यजु० अ० ३६।२४)

"हम सब सौ वर्ष पर्यंत पराजित न होते हुए जीवित रहें तथा हम सब सौ वर्ष तक अदीन अर्थात् उत्साही जीवन से युक्त रहें।" यह वैदिक धर्म की आकांक्षा प्रसिद्ध है। हर एक मनुष्य को उचित है कि वह सदा ऐसे पुरुषार्थ करता रहे, कि जिस से वह कभी पराजित न हो सके। पराजय होने से सब प्रकार की आपत्तियां प्राप्त होतीं हैं। पराजितों को ही सब कष्ट भोगने पड़ते हैं। पराजितों के सद्गुण बुरे समझे जाते हैं, और विजयी लोगों के दुर्गुण अनुकरणीय समझे जाते हैं। विजय का इतना प्रभाव है। इसलिये विजय प्राप्त करने का यत्न हर एक को करना उचित है।

३१

आत्मा

(१)

गुरुजी—बालकों! परमेश्वर के विषय में हिन्दू-धर्म का जो कथन है उस सम्बन्ध में हम यत्किञ्चित् समझ गये हैं, और इस संसार में हम किस तरह रहें कि परमात्मा हमें मिल सके, इस विषय पर भी हिन्दू-धर्म के मुख्य विचार हम देख चुके हैं। अब हम अपने विषय के तीसरे भाग की आलोचना करते हैं। इस प्रसंग में जो सवाल हमें हल करने होंगे वे निम्न रीति के हैं–म सचमुच कौन हैं? कहाँ से आये है और हमें कहाँ जाना है? यदि यह मान लिया जाय कि यह प्रत्यक्ष शरीर ही हमारी आत्मा है, हम जन्म के पहले कुछ भी न थे और मरने के बाद भी कुछ न रहेंगे, इस शरीर के चिता में भस्म होने के बाद हमें कहीं किसी को जवाब देना नहीं, इसलिये खाओ-पीओ मौज करो, तो ईश्वर और धर्म की चर्चा करना उपहासमात्र है। यदि यही मत स्वीकृत हो तो जो जो विचार हमने किये हैं वे सब निरर्थक हैं। पर यह मत ठहर नहीं सकता। वास्तव में बात यह है कि हम आत्मरूप हैं। वह आत्मा हमारी इस देह के जन्म से पहले थी और मृत्यु के समय हमारी देह के जल कर भस्म हो जाने पर भी रहेगी।

आत्मा

प्राचीन ऋषियों के समय में इस विषय को जानने की कैसी उत्कट इच्छा एक तुम्हारे जैसे बालक को हुई, इस विषय में तुम्हें एक कथा सुनाई जाती है:—

प्राचीन काल में नचिकेता नाम का एक विश्वास योग्य बालक था। उसका बाप यज्ञ में बूढ़ी, कूवड़ी और खल्लड़ गायें ब्राह्मणों को दान में दे रहा था। यह देख नचिकता ने मन में सोचा कि पिता जी निकम्मी वस्तुओं का तो दान कर रहे हैं, किन्तु अपनी एक भी प्रिय वस्तु नहीं दे रहे, हैं, इसलिये इस यज्ञ से क्या लाभ ? अतएव उसने पिता से कहा--"पिताजी ! आप निकम्मी वस्तुओं का दान तो करते हैं, किन्तु एक भी प्यारी वस्तु आपने किसी को नहीं दी।" उसने एक वार कहा, दो बार कहा। इतने में पिता चिढ़ कर बोला—" ले तुझे ही मैं दे डालता हूं।"

नचिकेता—"आप मुझे किस को देंगे ?"

पिता—(चिड़कर) "यमराज को।" नचिकेता ने विचार किया कि जैसे यह अनाज उगता है और काटा जाता है वैसे ही मनुष्य का जन्म होता है और मृत्यु होती है—बहुत मरे हैं और बहुत मरेंगे, इसलिये मृत्यु से डरना नहीं। फिर उस ने उत्तर दिय—"मुझे प्रसन्नता से यम के घर भेज दें।" पिता ने उसे यम के घर भेजा। उस समय यमराज घर पर न थे। इस कारण उसे तीन दिन यमराज के घर भूखे-प्यासे बाट देखते हुए पड़ा रहना पड़ा। यमराज घर आये और नचिकेता को

देखकर, अतिथि रूप से उसका सत्कार करने में विलम्ब हुआ इस कारण, उससे क्षमा मांगी और तीन दिन विना सत्कार उसे पड़ा रहना पड़ा, इस कारण वरदान मांगने के लिए उससे कहा। इसके अनुसार नचिकेता ने वरदान मांगे—"हे यमराज ! मृत्यु के बाद मनुष्य की क्या गति होती है, यह मुझे कहो। कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के बाद भी जीव रहता है, और कुछ यह कहते हैं कि उसका नाश हो जाता है—इसमें से सच क्या है, यह मुझे बताओ।" यमराज कहने लगे—"नचिकेता, यह विषय बहुत सूक्ष्म है, इसे समझना सहल नहीं, इसलिये इसके बदले और दूसरा वरदान मांग लो।" यह कह कर यमराज उसे पुत्र-पौत्र का सुख, दीर्घ जीवन और हाथी, घोड़े, रथ, खजाने, महल इत्यादि सम्पत्ति देने लगे, परन्तु नचिकेता ने इन्हें लेने से साफ इन्कार किया और बड़ी उपरामता से कहा—"हे देव ! इन हाथी-घोड़े, रागरंग को अपने ही पास रखो। मुझे तो संसार के सारे सुख तृण समान मालूम होते हैं। मुझे तो केवल एक ही वस्तु चाहिये और वह यह है कि आत्मा है वा नहीं, और है तो कैसी है, मुझे तो यही बतलाइये"। यमराज नचिकेता का यह उत्तर सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे आत्मा के विषय में ज्ञान दिया।

इतना कह कर गुरुजी ने पाठ समाप्त किया, किन्तु एक विद्यार्थी पूछ उठा—"गुरुजी, यमराज ने जो नचिकेता को

आत्मा के विषय में ज्ञान दिया था उसे तो आपने हमें बतलाया ही नहीं।"

गुरुजी—"यमराज ने नचिकेता से कहा था कि यह विषय अति सूक्ष्म है। सचमुच तुम्हारी इस विषय में उत्सुकता देख मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अतएव यमराज के दिये हुए ज्ञान में से कुछ एक दो विषय तुम समझ सकते हो जिन्हें मैं बतलाता हूँ:—

यमराज ने कहा—"नचिकेता, दो पदार्थ संसार में मनुष्य के सामने आकर खड़े रहते हैं—एक श्रेय और दूसरा प्रेय। (प्रेय-अच्छा, प्रिय, मनोनुकूल और श्रेय-हितकारक) इन दोनों में से चतुर मनुष्य दूसरी वस्तु ही लिया करता है, और उसे ही तुमने चाहा है, इस कारण मैं तुम से प्रसन्न हूँ। अब आत्मा के विषय में जो मैं कहता हूँ उसे सुनो।

शरीर तो एक रथ है और इस में रथ के स्वामी की भांति अधिरूढ़ आत्मा है। बुद्धि इसका सारथी है, मन इन्द्रियरूपी घोड़ों की बागडोर है। ये घोड़े विषयों की ओर दौड़ते हैं। इन्द्रियरूपी घोड़े इधर-उधर मनमानी ओर दौड़ कर, रथ को, अपने आपको, और रथ में बैठे हुए स्वामी को गड्ढे में न डाल दें, इस कारण बुद्धिरूपी सारथी अच्छा होना चाहिये। यदि सारथी अच्छा होगा तो वह रथ के स्वामी अर्थात् आत्मा को उसके परमपद-परमात्मा के धाम तक पहुंचा देगा।"

ननिकेता इस ज्ञान को पाकर पिता के पास आया और पिता ने उसे प्रेम से बुलाया। दृष्टांतरूप से इस कथा का सारांश यह है कि जो श्रद्धावान् है, जो करने से नहीं डरता और जो दुनियां के सुख का लालची नहीं, वही आत्मा को जान सकता है।

❀

३२

आत्मा

(२)

शरीर में होते हुए भी शरीर से भिन्न है और भिन्न प्रकार का है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, आपने कल हमें नचिकेता और यमराज की बात कही वह हमें बड़ी रोचक लगी, पर उसमें यमराज ने जो यह कहा कि आत्मा इस शरीररूपी रथ में बैठा हुआ रथ का स्वामी है, समझ में नहीं आता। शरीर से आत्मा भिन्न किस रीति से हो सकता?

गुरुजी—तुमारा प्रश्न उचित है। सारे दृष्टांत अधूरे हैं, यह परमेश्वर के विषय में बोलते हुए हमें कहना पड़ा था। क्या

तुमने उस बात का स्मरण रखा है? उसी रीति से यहां भी तुम्हें समझना चाहिए। श्वेतकेतु और उसके पिता की कथा तुम्हें याद होगी। उन दोनों की आपस की बातचीत में एक बात यह थी कि पिता ने बहुत साधारण दृष्टान्त से यह समझाया था कि शरीर से भिन्न आत्मा है और वह शरीर के एक कोने में रथ में रथ के स्वामी की भांति बैठी हुई नहीं बल्कि सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। पिता ने श्वेतकेतु से कहा, "श्वेतकेतु! जा इस झाड़ के मूल में कुल्हाड़ी चलाई जाय तो इसके जीवित होने के कारण इसमें से रस निकलेगा, इसके बीच के धड़ में कुल्हाड़ी चलाई जाय तो भी इसके जीवित होने के कारण इसमें से रस निकलेगा। परन्तु यदि इसकी शाखा में से जीवन जाता रहे तो वह सूख जायेगी, दूसरी शाखा में से जीवन जाता रहे तो भी वह सूख जायेगी, तीसरी में से जाता रहे तो भी सूख जायेगी—और इस क्रम से यदि सारे वृक्ष में से जीवन चला जाय तो सारा वृक्ष सूख जायगा। तब यह समझना चाहिये कि जीव का वियोग ही मरना है। जीव स्वयं नहीं मरता, परन्तु इसके वियोग के कारण यह जिसमें रहता था वह देह मरती है।" इस प्रकार श्वेतकेतु के पिता ने उसे एक सीधा दृष्टान्त देकर यह समझाया था कि देह में आत्मा रहती है, पर वह देह ही आत्मा नहीं है।

फिर, यह आत्मा सचमुच कितना अद्भुत पदार्थ है और हमें कितनी प्यारी है, इसे समझाने के लिये एक बात सुनो—

देवता और असुरों ने सुना कि आत्मा बुढ़ापा, मृत्यु, रोग, भूख, प्यास आदि सब दोषों से रहित है, और प्रजापति इस विषय का ज्ञान देते हैं। अतएव देवताओं के राजा इन्द्र और असुरों के राजा विरोचन, दोनों प्रजापति के पास गये और ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन कर उनके पास रहे। ३२ वर्ष होने पर प्रजापति ने उनसे पूछा—"हे इन्द्र और विरोचन ! तुम क्या सीखने आये हो ?" दोनों ने कहा—"महाराज, आत्मा क्या वस्तु है, इसे जानने के लिये हम आये हैं"। तब प्रजापति ने उनसे यह कहा—"देखो, आँख में जो यह पुरुष देख पड़ता है, वही आत्मा है ?"

इंद्र, विरोचन ने कहा—"पानी में वा शीशे में जो देख पड़ता है, क्या वही आत्मा है ?"

प्रजापति—"हाँ।"

फिर दोनों ने एक पानी भरे बासन में देखा और आकर कहा—

"महाराज, हमने आत्मा को देखा नख से शिख तक, सर से पैर तक।"

प्रजापति—"अच्छा"

फिर इन्द्र-विरोचन दोनों अपने-अपने घर चल पड़े। विरोचन अपने असुरों के मण्डल में पहुंचा और सब को यह वस्त्र अलङ्कार पहनने वाली देह ही आत्मा है, इस जड़वाद का उपदेश दिया। लेकिन इन्द्र को इस से सन्तोष नहीं हुआ। वह

आधे रास्ते से ही पीछे फिरा और प्रजापति के पास आया। पुनः ३२ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन कर प्रजापति से हाथ जोड़ कर उसने पूछा—"महाराज, ऐसी आत्मा से मुझे संतोष नहीं हुआ। इस शरीर को जैसे वस्त्र-अलङ्कार पहनाये जाते हैं, वैसे ही वस्त्र-अङ्कार वाली यह आत्मा देख पड़ती है। यदि शरीर लंगड़ा हो तो वह भी लंगड़ी हैं। शरीर में आंख नहीं तो वह भी अन्धी मालूम होती है। ऐसी आत्मा में मुझे कुछ भी अनुराग नहीं।" तब प्रजापति ने कहा—"अच्छा, तो जो स्वप्न में फिरती हुई वस्तु दीख पड़ती है वही आत्मा है।" इस उपदेश को सुनकर इन्द्र चला गया लेकिन फिर आधे रास्ते से लौट आया और फिर ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य पालन कर प्रजापति के पास बैठकर पूछने लगा—"महाराज, यह तो ठीक है कि शरीर के अंधे-लूले होने पर भी स्वप्न में दिखाई देने वाली आत्मा अंधी-लूली नहीं होती, पर स्वप्न में इस आत्मा को यदि कोई मारता है तो वह दुःखी होती है, रोती है। ऐसी आत्मा में मुझे कुछ आनन्द प्रतीत नहीं होता।" फिर प्रजापति ने कहा—"अच्छा, तो स्वप्नरहित गहरी नींद की दशा (सुषुप्ति) में जो रहता है वही आत्मा है।" इन्द्र इस उपदेश को सुन कर चला, लेकिन इससे सन्तुष्ट न हो कर आधे रास्ते से लौट कर प्रजापति से कहा—"महाराज ! यह तो सच है कि आपकी बतलायी हुई इस नयी आत्मा में कोई दुःख प्रतीत नहीं होता, किन्तु उस दशा

में मैं हूँ, यह गाढ़ निद्रा के कारण कुछ भी प्रतीत नहीं होता। इस आत्मा से भला क्या लाभ! इसलिए मुझे तो ऐसी आत्मा भी इष्ट नहीं।" फिर प्रजापति ने पुनः पांच वर्ष (कुल १०१ वर्ष) ब्रह्मचर्य पालन कराकर इन्द्र को आत्मा का उपदेश दिया। इस बात का तात्पर्य यह कि जो अपने आनन्द का स्थान है, जो होना हम चाहते हैं, वह आत्मा जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) इन तीनों अवस्थाओं में रहती हुई प्रतीत होती है, किन्तु ऐसा होते हुए भी वह इन तीनों अवस्थाओं से दूर है।

३३

जीवात्मा और परमात्मा

१

विचारचन्द्र—गुरुजी, जिस अद्भुत आत्मा के विषय में कल आपने कहा था उसे किसने उत्पन्न किया होगा? और वह किस वस्तु में से उत्पन्न हुई होगी?

गुरुजी—हिन्दू-धर्म में आत्मा को उत्पन्न हुआ नहीं मानते वह अनादि है; उसका अमुक दिन से आरम्भ नहीं होता।

विचारचन्द्र—गुरुजी, फिर हम सब क्यों ईश्वर के बालक कहे जाते हैं ?

गुरुजी—इसका अर्थ यह है कि जैसे अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं वैसे ही हम ईश्वर में से निकलते हैं। किन्तु चिनगारियां होने से कोई नया पदार्थ तो उत्पन्न होता नहीं, बल्कि वे तो अग्नि के बड़े भागों में से अलग होकर छोटे दिखाई देते हैं और वे स्फुलिंग कहे जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा तो एक ही वस्तु है।

विचारचन्द्र—लेकिन महाराज, जैसे अग्नि में से स्फुलिंग निकलते हैं वैसे हम परमात्मा में से निकले हुए हैं, यह दृष्टांत क्या बिल्कुल ठीक है ?

गुरुजी—हाँ, किन्तु इस दृष्टांत का यह अर्थ है कि परमात्मा की शक्ति, जिसे प्रकृति कहते हैं और जो हमारे आसपास फैली हुई है, उससे हमारी देह बनी है और उस देह के कारण हम ये जीव बने हुए हैं। पर जैसे स्फुलिङ्ग अग्नि के बाहर निकलते नहीं—परमात्मा के बाहर भला क्या हो सकता है ? परमात्मा सर्वव्यापक सर्वरूप है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, ठीक। तो इसी कारण प्रकृति माता है, यह ठीक है न ?

गुरुजी—हाँ लेकिन परमात्मा और परमात्मा की शक्ति, ये दो भिन्न वस्तुएं नहीं। जैसे सूर्य और सूर्य की शक्ति, जैसे

दीपक और उसकी प्रकाश करने वाली शक्ति, दो भिन्न नहीं हैं। जो परमात्मा है वही उसकी शक्ति है, और इस कारण परमात्मा को पिता और माता दोनों कहा जा सकता है। इसके सिवाय परमात्मा के लिये एक दूसरी उपमा दी जाती है। क्या तुम उसे जानते हो?

हरिलाल—हाँ राजा की।

गुरुजी—ठीक; अब इसका कारण कहो।

हरिलाल—राजा की भांति परमेश्वर भी हमारे लिये महात्माओं के द्वारा न्याय-नीति के और इस सृष्टि के नियम बांधता है, बुरे मार्ग से जाते हुये रोकता है और अच्छे मार्ग से हमें उन्नत करता है। हम दोष करें तो वह शिक्षा करता है, और अच्छे ढंग से चलें तो प्रसन्न होकर पुरस्कार भी देता है। इस लिये शुभ कर्म और भक्ति दोनों की आवश्यकता है। गीता में भी लिखा है कि भक्त को मैं बुद्धियोग देता हूँ—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते

(*गीता अ० १० श्लो० १०*)

गुरुजी—ठीक; अब इसके साथ इतना ध्यान रखना चाहिये कि राजा तो कठोर न्याय की मूर्ति है, और यह माता-पिता तो वात्सल्य (माता पिता का सन्तान-प्रेम) की मूर्ति है।

इस कारण जब यह दूसरा भाव विशेष रूप से बतलाना हो तब हम ईश्वर को माता-पिता की उपमा देते हैं। क्या कोई तीसरी उपमा दी जाती हुई तुम जानते हो ?

लड़कों ने और कोई उपमा सुनी नहीं थी इस कारण वे चुप रहे।

गुरुजी—जीव और ईश्वर को कितनी ही बार सखा—मित्र की उपमा दी जाती है। राजा की अपेक्षा माता-पिता की उपमा कोमलता दरसाती है, किन्तु उस में भी एक कमी है माता-पिता के साथ हम आदर-पूर्वक व्यवहार करते हैं, दुःख के समय उनका सहारा लेते हैं, किन्तु हृदय खोलकर पूरी-पूरी छूट से, बिना संकोच के, दुःख-सुख की बात करना तो मित्र के ही साथ बन सकता है, इस कारण परमात्मा को गीता में सखा अर्थात् मित्र कहा गया है। वेद का कथन है कि इस संसार रूपी वृक्ष पर दो मिले हुए सखारूपी पक्षी बैठे हैं, उनमें से एक इस वृक्ष के मीठे फल खाने की कामना करता है और खाता है और दूसरा इन फलों को देखता रहता है, खाता नहीं। खाने वाला पक्षी तो जीव है और केवल देखने वाला परमात्मा है। हमारे हृदय में भी हमारा और परमात्मा का इकट्ठा वास है, किन्तु हम इस संसार के भोगों में फंस रहे हैं, और परमात्मा साथ रहता हुआ देखता है और मित्र की तरह हमें पापों से बचाने के लिये चेतावनी भी देता रहता है। इस बात का अनुभव विचार करने पर हमारे अन्तःकरण में होता रहता है।

अब मैं एक और जानने योग्य बात कहता हूँ। इन दो सखाओं के नाम अपने इतिहास-पुराणों में नर (जीव) और नारायण (परमात्मा) बतलाये गये हैं, और इन नर और नारायण के अवतार अर्जुन और कृष्ण थे। दो मित्र हैं, उनमें परमात्मा तो इस संसार में जीवात्मा को उचित मार्ग पर चलाता है, अतएव कृष्ण इस संसार रूपी रणक्षेत्र में अर्जुन के सारथी बने।

कृष्ण ऐसे योगिराज को व्यासजी ने अर्जुन का सारथी क्यों बनाया, इसका सूक्ष्म अभिप्राय आज लड़कों ने समझा और समझ कर सब बहुत आनन्दित हुए।

३४

जीवात्मा और परमात्मा

(२)

पहले दिन के पाठ पर विचार कर दूसरा पाठ आरम्भ करना यह धर्म-कक्षा की प्रति दिन की रीति थी।

गुरुजी—बालकों कल तुमने जीवात्मा और परमात्मा सम्बन्धी कितने दृष्टान्त समझे?

बालक—तीन।

गुरुजी—वे क्या हैं।

रमाशंकर—एक राजा-प्रजा का, मां-बाप और बच्चों का, और तीसरा दो मित्रों का।

गुरुजी—इनमें क्या इस पिछले दृष्टांत में कोई कमी मालूम हुई ?

रमाशंकर—हाँ, हमारा और परमात्मा का सम्बन्ध अकेला मित्र ऐसा नहीं। मित्र तो बराबर के होते हैं। क्या हम और परमात्मा कुछ बराबर हो सकते हैं ? मित्र के भाव के साथ राजा-प्रजा के और मां, बाप, बच्चों के भाव भी होने आवश्यक हैं।

गुरुजी—ठीक ! किन्तु यह भी समझना चाहिये कि हमारा और परमात्मा का सम्बन्ध किसी भी एक दृष्टान्त से पूरा पूरा समझाया नहीं जा सकता। अच्छा तुमने जो कहा था उसके सिवाय तुम्हें मित्र के दृष्टांत में और कोई कमी समझ में आती है ?

रमाशंकर—नहीं गुरुजी।

गुरुजी—तो सुनो। मित्र की देह एक दूसरे से स्वतन्त्र है, किन्तु जीवात्मा की देह तो परमात्मा की देह में से हमारे आस पास की इस विस्तीर्ण प्रकृति से ही उत्पन्न हुई है, बल्कि उसका ही भाग है। इस कारण मित्र का दृष्टांत भी पूर्ण रीति से लागू नहीं होता। फिर कितने ही शास्त्रकारों के

अनुसार इसमें एक और कमी है। मित्र के दृष्टांत में यह एक है और यह दूसरा है, इस प्रकार दो गिने जा सकते है, पर परमात्मा तो वही है जो हमारी सबकी आत्मा में है। चैतन्य-रूप से हम सब एक ही हैं। (*यह पिछला भाग लड़कों की समझ में नहीं आ सका, यह बात गुरुजी ने लड़कों की आकृति से जान ली*)

गुरुजी--बालकों, मुझे मालूम होता है कि तुम पिछली बात को नहीं समझे। अच्छा, अभी इसे रहने दो (*सब समुद्र के पास खड़े थे। समुद्र धीरे २ बढ़ता आता था और समुद्र की लहरें एक के बाद दूसरी बढ़ती चली जाती थीं*)

गुरुजी—देखो, ये लहरें कैसी उछल रही है !

कान्तिलाल--हाँ, महाराज बड़ा सुन्दर दृश्य है ! देखो यह लहर दूसरी लहर की अपेक्षा कितनी बढ़ी आ रही है !

गुरुजी—आओ, लहरें गिनें, देखें पांच मिनट में कितनी आती हैं ?

कन्तिलाल--(गिनकर) पन्द्रह। गुरुजी, अब हम चलें क्योंकि समुद्र बढ़ता आता है।

गुरुजी—समुद्र बढ़ता आता है या लहरें ?

कान्तिलाल—क्या लहरें समुद्र नहीं हैं ? क्या लहरें कुछ समुद्र से भिन्न हैं ?

गुरुजी—जो तुमने पन्द्रह गिने, वे लहरें थीं वा समुद्र ?

कान्तिलाल—लहरें। किन्तु समुद्ररूप से तो सब एक ही हैं न ?

गुरुजी—ठीक, तो अब समुद्र के स्थान में परमात्मा को समझो, और तरङ्गों की जगह जीव को समझो। तरंगें एक दूसरे से भिन्न हैं, तो भी समुद्ररूप से सब एक हैं। उसी प्रकार से जीव एक दूसरे से भिन्न हैं तथापि परमात्मारूप से सब एक हैं। फिर तरङ्ग तो समुद्र है, तरङ्ग समुद्र से भिन्न नहीं, इसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा है, जीवात्मा परमात्मासे भिन्न नहीं।

इस दृष्टान्त से जो बात पहले लड़कों की समझ में नहीं आयी थी वह सहज ही में उनकी समझ में आ गई। जहाँ यह यिषय कठिन लगा वहाँ रहने दो, कह कर गुरु जी ने सब को दूसरी बात में लगा दिया था और अब उस बात में से ही छोड़े हुए विषय को समझा दिया। लड़के इस बात से बहुत चकित हुए। शास्त्र में दृष्टान्त किस लिये दिये जाते हैं, इसका भी उन्हें परिचय मिला, अर्थात् दृष्टान्त से विषय तुरन्त ममझ में आता है।

अब धीरे-धीरे पानी उतरा। रेती में जहाँ पहले दिन, खेलते खेलते लड़कों ने छोटे-छोटे गड्ढे खोदे थे, उनमें पानी भर गया। सन्ध्या हुई, आकाश में चन्द्रमा दीख पड़ा। गुरुजी ने बालकों को खबोचिओं (गड्ढों) में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखलाया और कहा:—

बालकों, इस चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को देखो। इस प्रकार से जीवात्मा भी उस परमात्मा का—हमारे शरीर और हृदय में पड़ने वाला—प्रतिबिम्ब है, यह कितने ही शास्त्रकार कहते हैं।

❀

३५

कर्म और पुनर्जन्म

धर्म-शिक्षण के वर्ग के विद्यार्थी वन की शोभा देखते-देखते चले जाते हैं। रास्ते में गुरुजी ने कहा—"देखो, बालकों, इस खेत में अनाज का पाक कैसा अच्छा है !" सब लड़के गेहूँ की बालों को देखने लगे और उनके दूध भरे दानों को देख बड़े प्रसन्न हुए। उनमें एक शङ्कर नाम के बालक ने कहा—"गुरुजी, हमने जो पहला खेत देखा उसमें तो दाने सूख गये थे और कितनी ही बालें पूरी न हो पाई थीं। इस खेत का मालिक भाग्यशाली प्रतीत होता है।"

पुरुषोत्तम—गुरुजी, शङ्कर ने जो कहा, क्या यह सच है ? मेरा तो यह मत है कि उसके परिश्रम, बुद्धि और मनोयोग का ही फल है। उसने खेत अच्छी तरह से जोता होगा, बीज भी अच्छा चुन कर बोया होगा, और उसके बाद पानी देने में भी बहुत श्रम किया होगा, इन कारणों से ही उसके गेहूँ अच्छे हुए।

गुरुजी—पुरुषोत्तम का कथन सत्य है। जैसा करेंगे वैसा पायेंगे। 'जो जस बुवै सो तस फल चाखा'। गेहूँ बोने से गेहूँ मिलते हैं, और गेहूँ में बीज, खाद और पानी के अनुसार ही पाक होता है।

शङ्कर—किन्तु गुरुजी, खेत ही खराब हो तो विचारा किसान भी क्या करेगा ?

गुरूजी—बहुत कुछ कर सकता है। तुमने अमेरिका के किसानों की बात सुनी होगी। हजारों मील जंगल में बस कर, खराब जमीन को अपनी मिहनत से सुधार कर, अच्छी खाद डाल कर, वे अपने खेतों से बहुत पैदावार कर सकते हैं। लेकिन इसके साथ तेरा कथन इतना तो सच है कि जमीन पर भी पैदावार का बहुत आधार रहता है। उस किसान के पास यदि अच्छी जमीन होती तो अच्छी पैदावार हो सकती थी। मैं इन दोनों किसानों की सच्ची अवस्था जानता हूँ। वे दोनों भाई हैं। उनके बाप ने तो उन्हें एकसी सम्पत्ति दी थी, लेकिन उनमें से एक ने तो बहुत सा धन उड़ा दिया, और बचे हुए थोड़े धन से उस बुरे खेत को मोल ले लिया, दूसरे भाई ने तो यह अच्छा खेत ही लिया, किन्तु अब भी वह पहला भाई चाहे तो अमेरिका के किसान की भांति बहुत कुछ कर सकता है।

इस प्रकार बातचीत करते-करते सब अपने नित्य के मिलने के स्थान, बड़े बरगद की छाया में, आ पहुँचे।

गुरुजी—आज हमें यहाँ बहुत नहीं बैठना है। मैंने रास्ते में जो बातचीत तुमसे की थी उससे ही मैंने तुम्हें आज का पाठ पढ़ा दिया। हिन्दू धर्म की सनातन, बौद्ध, जैन तीनों शाखाओं के माने हुए एक बड़े सिद्धान्त के विषय में वह पाठ था, वह सिद्धान्त कर्म का महानियम है—'जो जस बुबै

सो तस फल चाखा'—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'।

हमें इस जन्म और पूर्व जन्म के किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा। लोग साधरणतया कर्म शब्द का भाग्य के अर्थ में प्रयोग करते हैं। 'कर्म में लिखा है'— 'भाग्य की रेखाएँ मिट नहीं सकती' इत्यादि वाक्य हम बहुधा सुना करते हैं, किन्तु कर्म शब्द का अर्थ भाग्य नहीं, बल्कि किया हुआ काम है। भाग्य का सहारा लेकर आलसी और निरुद्यम होकर बैठे रहना हिन्दू धर्म की दृष्टि से अनुचित है, बल्कि कर्म का अभिप्राय ही यह है कि मनुष्य अपने शुभ-अशुभ कर्मों के लिये उत्तरदायी है और 'जो जस बुवै सो तस फल चाखा' यह विचार कर उसे उद्योगी होना ही चाहिये। हमारा सुख-दुःख हमारे इस जन्म के वा पूर्व जन्म के किये हुए कर्मों पर निर्भर है, यही हमारे धर्म का अटल सिद्धान्त है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भाग्य भी हमारे पूर्व के किये हुए कर्मों से बनता है। जैसे बोया हुआ बीज समय आने पर ही उग कर फूलता-फलता है, उसी प्रकार कर्म और भाग्य को समझो।

अब एक और बात पर भी विचार करो। हम से इस जीवन में अनेक भूलें होती हैं, जिसका फल हमें भोगना पड़ता है। कितने ही अपने किये हुए कर्मों का फल तो हम यहीं भोग

लेते हैं, किन्तु हमें अपने सभी शुभ-अशुभ कर्मों का बदला इस जीवन में मिलने से रह जाता है । कभी-कभी तो हमें पापी मनुष्य सुखी, और धर्मात्मा दीन-हीन देख पड़ते हैं, पर यदि इस जगत का कोई न्याय-नियन्ता—नियमानुसार चलाने वाला परमेश्वर है—और वह है ही यह हमारा अटल विश्वास है—तो जैसे दो और दो चार ही होते हैं, पांच नहीं होते, सूर्य पूर्व में ही उदित होता है और पश्चिम में कदापि नहीं उगता, वैसे ही अन्त में—इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में—अवश्य अच्छे का फल अच्छा और खोटे का खोटा हुए बिना नहीं रह सकता ।

इस प्रकार हमारे जीवन का भूत और भविष्य काल से घनिष्ठ सम्बन्ध है । यदि ऐसा न हो तो अबके किये हुए कर्म निष्फल होंगे और पहले कुछ किये बिना वर्तमान स्थिति में अकारण ही उत्पन्न हुए हैं, यह न्यायी ईश्वर के राज्य में कैसे सम्भव है । इस रीति से कर्म के सिद्धान्त के साथ पूर्व-जन्म और पर जन्म का—अर्थात जीवन की अनादि और अनन्त रेखा का-हम जन्म से जन्मे नहीं और मृत्यु से मरते नहीं, इस महासत्य का सिद्धान्त जुड़ा हुआ है । ये दोनों सिद्धान्त ईश्वर की न्याय-परायणता के आधार पर रचे गये हैं ।

❀

३६

स्वर्ग और नरक

लड़के अगले दिन के उपदेश पर घर जाकर विचार किया करते थे और उसमें जो बात पूछने योग्य होती थी उसे दूसरे दिन वे पूछा करते थे। लड़कों की विचार-शक्ति बढ़ाने के लिये सामान्य रीति से इस शैली को अनुसरण किया जाता था।

गुरुजी—किसी को कुछ पूछना है ?

विचारचन्द्र—महाराज, आपने यह कहा था कि इस जीवन में समस्त कर्मों के फल नहीं भोगे जाते, इस कारण उनके भोगने के लिये पुनर्जन्म लेना पड़ता है। लेकिन पुनर्जन्म के बदले स्वर्ग-नरक के मान लेने से काम चल सकता है।

गुरुजी—हिन्दू-धर्म स्वर्ग-नरक तो मानता ही है, लेकिन उनके साथ पुनर्जन्म भी मानता है। इन दोनों को मानने का कारण यह है कि हम जो भोग वर्तमान समय में भोगते हैं वे कुछ एकदम बिना कारण नहीं आ पड़े, जगत् में जैसे हर एक वस्तु का कारण होता है वैसे ही इसका भी कारण होना चाहिये, और इसलिये पहले हमने किसी स्थल में ऐसे कर्म किये होंगे कि जिनका परिणाम हमारा वर्तमान जीवन है, लेकिन स्वर्ग और नरक तो भोग-भूमि है, कर्म-भूमि नहीं, अर्थात् वहाँ तो कर्म के फल भोगे जाते हैं, नये कर्म किये नहीं जाते।

हरिलाल--गुरुजी, यह कैसे ?

गुरूजी—कारण यह कि हमारी व्यवस्था के अनुसार स्वर्ग और नरक अच्छे और बुरे कर्मों के फल भोगने के स्थान हैं। वहाँ भी यदि दूसरे कर्म किये जाँय तो वे पूर्व-जन्म और पर जन्म के कारण हो जायेंगे। इसलिये हमारी इस योनि के सुख-दुख के कारणरूप जो कर्म होने चाहिये उन का स्थान स्वर्ग नरक नहीं, परन्तु पूर्व जन्म ही माना जाता है।

विचारचन्द्र—तो फिर स्वर्ग-नरक की जरूरत ही क्या रही ?

गुरुजी—सुनो ! हमारे जो भले बुरे कर्म देख पड़ते हैं वे वास्तव में ऐसे बड़े होते हैं कि उनका बदला इस हमारे छोटे से संसार में नहीं मिल सकता। कल्पना करो कि इस संसार में एक दुष्ट-पुरुष द्वारा एक साधु-पुरुष की निष्ठुरता से की हुई हत्या के सम्बन्ध में बहुत से बहुत क्या दण्ड हो सकता है ? इस प्रकार के काम के लिए मृत्यु का दण्ड पर्याप्त नहीं है।

विचारचन्द्र--किन्तु यदि यह मान लें कि आने वाले जन्म में वह साधु-पुरुष उस दुष्ट से वैसा ही व्यवहार करे तो नरक की कल्पना करना तो व्यर्थ ही होगा ?

गुरूजी—तो साधु और दुष्ट के बीच में बदले के बाद निबटारा तो हो सकता है, किन्तु परमेश्वर के सामने तो अपराध बना ही रहता है न ? पर दयालु ईश्वर उस अपराध को सदा अपनी दृष्टि में नहीं रखता, नरक की सजा का भोग करा कर वह उसे शुद्ध करता है। फिर यदि वह साधु क्षमा-

शील और उदार मन का हो और जैसा उसके साथ एक जन्म में किया गया वैसा वह स्वयं दूसरे के प्रति दूसरे जन्म में न करे तो भी इसके कारण किया हुआ पाप क्या मिट सकता है? वह तो जब उसकी सजा नरक में भोग लेगा तभी मिट सकता है। दूसरे पाप के बदले में पाप करने का ही विधान असंगत है। इसलिये पुनर्जन्म के साथ स्वर्ग-नरक मानना आवश्यक है।

भले-बुरे कर्मों के अनुसार स्वर्ग-नरक भोगने ही पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में हिन्दू-धर्म का विश्वास इतना दृढ़ है कि युधिष्ठिर ऐसे धर्मराज के अवतार माने हुए महापुरुष को भी इस नियम से मुक्त नहीं माना गया।*

प्रेमशंकर—गुरुजी, स्वर्ग और नरक कहाँ होंगे?

गुरुजी—ये स्वर्ग और नरक हमारी भूमि के सदृश कोई और भूमि नहीं। ये तो जीव की वर्तमान से कुछ भिन्न ही प्रकार की अवस्थायें हैं, जिन अवस्थाओं में जीव को केवल सुख और दुख ही भोगने पड़ते हैं। इसलिए हिन्दू शास्त्रकार कितनी ही बार यह कहते हैं कि स्वर्ग और नरक ये सुख-दुःख की अवस्थायें हैं और वे हमारे भीतर ही हैं। जैसे हम स्वप्न में देखी हुई दुनियां को न इस पृथ्वी के ऊपर और न उसके नीचे ही कह सकते हैं, वैसे ही ये स्वर्ग और नरक ऊंचे हैं वा नीचे, यह नहीं कह सकते। परन्तु हमारे मन का कुछ ऐसा स्वभाव है कि जो वस्तु अच्छी है उसे हम हमेशा ऊपर मानते

* इस पुस्तक में 'हरिश्चन्द्र का यज्ञ' शीर्षक पाठ देखो।

हैं, और जो चीज बुरी है उसे हम नीचा मानते हैं। इसलिये स्वर्ग ऊपर नरक नीचे माना गया है।

सुशील—गुरुजी, स्वर्ग एक है वा अनेक ?

गुरुजी—सुख एक है, अतएव सुख का धाम स्वर्ग भी एक ही है। लेकिन परमात्मा के भिन्न-भिन्न रूप के कारण जैसे देवता अनेक हैं वैसे ही इन देवताओं के धाम भी अनेक हैं। सृष्टि लीला सर्वत्र एक है, तथापि पहाड़ पर हवा के झकोरों का एक तरह का सुख, समुद्र के किनारे दूसरी तरह का सुख, और बगीचे में तीसरी तरह का सुख मिलता है। वे भिन्न-भिन्न लोक—अग्नि लोक, वायुलोक, चन्द्रलोक इत्यादि कहे जाते हैं, और वे सब मिलाकर स्वर्ग बन जाते है। तुम्हें याद होगा कि पूर्व-व्याख्यानों में हम शिव और विष्णु की भक्ति के पन्थों का निरूपण कर चुके हैं। इन देवताओं के धाम क्रम से कैलाश और बैकुण्ठ कहे जाते हैं। शिवजी के भक्त कैलाशवास की मनोकामना रखते हैं, और वैष्णवजन विष्णुधाम बैकुण्ठ के लिये तरसते हैं। ये धाम भगवद्भक्तों की दृष्टि में स्वर्ग से भी बढ़ कर महान् आनन्द से परिपूर्ण स्थान हैं।

३७

मुक्ति

रामनाथ— गुरुदेव ! कल आपने स्वर्ग और नरक का वर्णन किया था। उसे सुनकर मेरे मन में यह हुआ कि स्वर्ग का सुख तो अनन्त-अपार होगा। क्या यह मेरा विचार सत्य है ?

गुरुजी—अनन्त सुख का धाम ही स्वर्ग है, और जिसमें अनन्त सुख है उस स्वर्ग के सुख का पार भी नहीं, इसी अर्थ में 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग भी होता था, किन्तु धार्मिक जीवन के जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न मार्ग बनते गये, वैसे ही वैसे जीवन के लक्ष्य रूप स्वर्ग के भी स्वरूप भिन्न-भिन्न तरह के माने जाने लगे। जो लोग अपना सारा जीवन यज्ञ, दान, व्रत, तप करने में व्यतीत करते हैं और ईश्वर के विषय में विचार नहीं करते हैं, उन्हें एक प्रकार का परलोक मिलना चाहिये, और जो ईश्वर की निष्काम भक्ति को वा उसके ज्ञान को अपने जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं, उनकी गति भिन्न रीति से होनी चाहिये । ये ही दो जीवन के मार्ग हैं और इसके अनुसार परलोक के भी दो मार्ग हैं, जो क्रम से धूम मार्ग (धुएं का मार्ग) और अर्चिमार्ग (प्रकाश-का मार्ग) कहे जाते हैं । सकाम शुभ कर्मों में वासनारूपी धुएं का सम्बन्ध है इस कारण वह धूममार्ग कहलाता है, और ज्ञान तो प्रकाशरूप है, इसलिये उसका मार्ग अर्चिमार्ग कहलाता

है। वह ज्ञान निष्काम कर्मों से अर्थात् आसक्तिरहित हो कर कर्म करने से प्राप्त होता है। धूममार्ग द्वारा स्वर्ग प्राप्त होता है, लेकिन ऐसे स्वर्ग के सुख का अन्त है, क्योंकि जितना पुण्य उतना ही स्वर्ग का सुख होता है, और उस सुख के भोगने के पश्चात् जीव को फिर पृथ्वी पर लौट आना पड़ता है। अतएव जो सकाम शुभ कर्म यज्ञ-यागादिक मात्र ही किया करते हैं, वे पृथ्वी से स्वर्ग और स्वर्ग से पृथ्वी पर आया जाया करते हैं। यहाँ पर यज्ञ का अर्थ अनेक प्रकार के शुभ कर्मों से है, जैसा भगवान् ने कहा है—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संसितव्रताः ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोच्यसे ॥

(श्रीमदभगवद्गीता अ० ४ श्लोक २८, ३२)

अर्थ—कोई धन, सामग्री के दानरूप यज्ञ करता है, कोई तपरूप यज्ञ करता है, कोई योगरूप यज्ञ करता है और कोई कठोर व्रत कर बड़े परिश्रम से वेदाध्ययनरूप अथवा ज्ञानार्जनरूप यज्ञ करता है।

ऐसे अनेक प्रकार के यज्ञ ब्रह्मा ने वेदमुख से कहे हैं। इन सब का मूल यह कर्म है तुम जान लो, तब बन्धन से मुक्त हो

जाओगे। यह निरन्तर आवागमन की स्थिति सुख दुःख से मिश्रित है, किन्तु यह स्थिति चाहे अखण्ड सुख से परिपूर्ण क्यों न हो, तथापि विचारवान् पुरुषों को यह आवागमन अच्छा नहीं लगता। उन्हें तो इस संसार वा स्वर्ग की अपेक्षा ईश्वर क समागम विशेष आनन्दप्रद होता है, और इस कारण वे पृथ्वी और स्वर्ग की फेरी से, और जन्म-पुनर्जन्म के चक्र से, जिसे 'संसार' (अर्थात् जो चलता ही रहता है) कहते हैं, उसमें से छूटने की इच्छा करते हैं। इस संसार से छूटना ही मुक्ति है। अनेक द्वैतवादियों के सिद्धान्त के अनुसार 'मुक्ति' चार प्रकार की है। इस के अतिरिक्त अद्वैतवादियों के अनुसार एक कैवल्य मुक्ति है, उस में आत्मा अपने केवल शुद्ध-रूप का अनुभव करता है। इस कैवल्य मुक्ति में आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव मरण के पश्चात् तथा जीवित दशा में रहते हुए भी हो सकता है।

यद्यपि ईश्वर सर्वव्यापी और निराकार है, किन्तु अपनी अनन्त माया को धारण करने के कारण उसमें साकार की कल्पना भी घट सकती है। इसलिये उसके साकार स्वरूप की कल्पना करते हुए भक्तिमार्गी द्वैतवादियों ने चार प्रकार की अलंकार रूप में मुक्ति की कल्पना की है। मुक्ति की अवस्था तो मुक्त जीवों द्वारा अनुभव से ही जानी जाती है, किन्तु यह बात निर्विवाद है कि मुक्ति में अनन्त और नित्य सुख प्राप्त होता है।

३८

मुक्ति के साधन

गुरुजी—सब विद्याओं में शिरोमणि अध्यात्म विद्या कही गयी है। इसलिये यहाँ के महात्माओं को सदा से इस विद्या द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का प्रधान लक्ष्य रहा है।

विचारचन्द्र—गुरुजी, कल आपने जो उत्तम से उत्तम प्रकार की मुक्ति बतलाई, वह कैसे मिल सकती है ?

गुरुजी—वह गांठ खोलने पर मिलेगी।

विचारचन्द्र—लेकिन वह कैसे खुलेगी ?

गुरुजी—गांठ लगी हो तो वह सुलझाने से ही खुल सकती है।

विचारचन्द्र—तो, महाराज, इसका अर्थ यह है कि गांठ किस प्रकार लगी है, यह देखना चाहिये।

गुरुजी—अवश्य ! देखने से मालूम होता है कि जो कर्म हम करते हैं उनसे हमारी वासनायें बनती हैं, और वासना

से पुनर्जन्म होता है और इस रीति से कर्म, वासना और पुनर्जन्म चलता ही रहता है।

विचारचन्द्र—तो महाज, कर्म न करने चाहिये।

गुरुजी—करने ही चाहिये। करने चाहिये, यह कहने की जरूरत ही नही। कृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं कि कोई भी मनुष्य एक क्षण भर भी कर्म किये बिना रहता ही नहीं।

विचारचन्द्र—तो महाराज, यह तो बड़ी कठिनाई आ पड़ी। यदि कर्म किये जायं तो वे हमें संसार में डुबा रखते हैं, और न किये जायें तो यह सम्भव नहीं। तो फिर क्या करें ?

गुरुजी—ऐसा कर्म करना कि जिससे वह कर्म कर्म ही न रहे। (लड़के इसे न समझकर घबराये) घबराओ मत। मैं अपने कहने का अर्थ समझाता हूं। जैसे बिच्छू का डङ्क निकाल लेने से वह बिच्छू-बिच्छू नहीं रहता, उसी प्रकार कर्म करने का जो भाव है, जिसके कारण वह वासना उत्पन्न करता है, उस भाव को निकाल डालें तो काफी होगा।

विचारचन्द्र—वह कौन सा भाव है ?

गुरुजी—सकाम-बुद्धि, स्वार्थ-बुद्धि—जिसके कारण अहङ्कार उत्पन्न होता है। संसार में जो जो कर्म करने हों वे राग-द्वेष से न करने चाहिये, किन्तु प्रभु की आज्ञा है—इस भावना वा बुद्धि से ही वे कर्म करने चाहियें, और इस रीति से निष्काम कर्म करने पर वासना का अंकुर नहीं जमता। पर

यह बतलाओ कि ईश्वर की आज्ञा पर चलने की इच्छा कब होगी ?

विचारचन्द्र—ईश्वर पर जब हमारी पूर्ण श्रद्धा होगी।

गुरुजी—तो इस बात से यह समझो कि मेरे कहे हुए निष्काम (स्वार्थ-इच्छा विना) और न्यायबुद्धि से कर्म करने के लिये भक्ति की आवश्यकता है। अब यह बतलाओ कि भक्ति हमारे मन में कब उत्पन्न होती है ?

विचारचन्द्र—जब हम यह जान जायें कि ईश्वर में ऐसे गुण हैं जिनसे भक्ति उत्पन्न होती है।

गुरुजी—ठीक, पर इसके लिये ज्ञान की आवश्यकता है। इस प्रकार कर्म, भक्ति और ज्ञान का परमात्मा के मार्ग में उपयोग किया जाता है, और यह योग कहा जाता है।

कर्म को परमात्मा के मार्ग में लगाना ही "कर्मयोग" है भक्ति को लगाना "भक्तियोग" और ज्ञान को लगाना "ज्ञानयोग" है। इस प्रकार इस उत्तम प्रकार के कर्म, भक्ति और ज्ञान को गीता में यह तीन नाम दिये गये हैं। तीनों हमारे धार्मिक जीवन में किस प्रकार उपयोगी होते हैं, इसे मैं कुछ विस्तार-पूर्वक समझाता हूं।

(१) **कर्म**—यह प्रभु की आज्ञा का पालन करना है। इससे प्रभु प्रसन्न होते हैं और अन्तःकरण शुद्ध होता है। लेकिन कर्म केवल धार्मिक क्रियामात्र नहीं, जैसे यज्ञ, दान, तप, व्रत,

परन्तु न्यायसंगत वर्णाश्रम के सभी धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये।

(२) **भक्ति**—कर्म के साथ भक्ति चाहिये। कितनी ही बार काम करते-करते अर्थात् संसार का अनुभव करते-करते ईश्वर का ज्ञान होता है और भक्ति उत्पन्न होती है, पर वह भक्ति हमेशा शुद्ध ही नहीं होती, कितनी ही बार हम ईश्वर को "हे प्रभु ! हमारे दुःख दूर करो, हमारे बाल-बच्चों को सुखी रखो, हमें धन-धान्य की समृद्धि हो", इत्यादि प्रार्थना करते हैं। पर सच तो यह है कि इस तरह की भक्ति स्वार्थवृत्ति की है, तथापि ईश्वर के नाम की और उसकी प्रार्थना की महिमा ऐसी है कि इसके द्वारा भी हम धीरे-धीरे शुद्ध बन जाते हैं, और सकाम भक्ति में से निष्काम भक्ति में आ जाते हैं।

(३) **ज्ञान** – जब हम निष्काम भक्ति में आ जाते तब हमें ईश्वर के सिवा किसी वस्तु में सुख प्रतीत नहीं होता, और इस कारण ईश्वर के जानने की, उसके दर्शन करने की हमारी तीव्र इच्छा होती है। किन्तु इस इच्छा के उत्पन्न करने के लिये हमें पहले इतनी सामग्री इकट्ठी करनी चाहिये:—

एक तो 'विवेक' अर्थात् यह संसार अनित्य है, ईश्वर नित्य है, यह देह अनित्य है, आत्मा नित्य है, इत्यादि ज्ञान चाहिये। दूसरा 'वैराग्य' अर्थात् इस लोक के तो क्या, स्वर्ग के सुख की भी मुझे इच्छा नहीं, ऐसी प्रबल मनोवृत्ति होनी चाहिये। तीसरा

'शम' (मन शान्त रखना) 'दम' (इन्द्रियों को वश में रखना) इत्यादि मानसिक बल और शान्ति के गुण चाहिये। चौथा 'मुमुक्षत्व' अर्थात् इस संसार से छूटने की इच्छा होनी चाहिए। इनमें से हर एक गुण की परम आवश्यकता है, तथापि 'मुमुक्षत्व' सबसे बड़ा गुण है, क्योंकि यदि यह होगा तो पूर्वोक्त सभी को खींच लायेगा।

❀

३६

षट्दर्शन

ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिकारी भेद से उत्तरोत्तर सीढ़ी

आनन्द—गुरुजी, आपने कल कहा था कि कितने ही शास्त्रकारों का ऐसा मत है, और पहले जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में बोलते हुए भी आपने इसी प्रकार अमुक मत कितने ही लोगों का है, यह कहा था। तो महाराज, हमारे शास्त्रों में सब का कथन एक ही न होगा ?

गुरुजी—पुस्तक पढ़ने की सामर्थ्य प्राप्त करने के पहले जैसे वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त कर लेना जरूरी है इसी प्रकार

भिन्न-भिन्न रीति से मनुष्यों को समझाने के लिये हमारे शास्त्रकारों ने षट्दर्शनों की रचना की है। जहाँ तक हो सका, हिन्दू-धर्म के इन तत्वों के समझाने में जो तत्व सबको मान्य थे अथवा होने ही चाहिए, उन्हें ही मैंने लिया है। लेकिन सभी शास्त्रकारों का सभी विषयों पर एक-सा ही मत और कथन कैसे हो सकता है ? हर एक के मस्तक में भिन्न-भिन्न मति होती है। ऐसी भिन्न भिन्न मति के कुछ दृष्टांत मैं तुम्हें दूंगा, जिनसे तुम यह भली भांति समझ जाओगे कि जीव, ईश्वर और जगत् के विषय में ज्ञान उपार्जन करने में हमारे पूर्वजों ने कैसा परिश्रम किया था।

वेद में जो कहा है, उसे अनुभव करने के लिए भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों ने दर्शन (अर्थात् देखने के साधन) रचे जो षट्दर्शन कहलाते हैं। हर एक दर्शन का इतिहास इतना लम्बा-चौड़ा है कि उनके सिद्धान्तों में फेरफार होना स्वभाविक है, और ऐसा हुआ भी है। तो भी साधारण रीति से आजकल अमुक सिद्धान्त दर्शन का है, यह माना जाता है। इसके अनुसार मैं तुम्हें उनके सिद्धान्त बतलाता हूँ:—

(१) सांख्यदर्शन—इसके पहले आचार्य कपिलमुनि कहलाते हैं। इस दर्शन का सिद्धान्त यह है कि संसार जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि ताप (दुख) से भरपूर है, और ऐसा होने का कारण यह है कि उसमें प्रकृति और पुरुष, जड़ और चैतन्य, ये दो तत्व परस्पर मिल गए हैं। पुरुष (जीव) प्रकृति से भिन्न है, तथापि अपने आपको प्रकृति के साथ बांध लेने से

वह अपने दुखों का स्वयं जन्मदाता बन गया है। यह प्रकृति सत्व, रज और तम, इस तीन गुणों की बनी हुई है, और वे क्रम से सुख, दुःख और मोह (जड़ता) उत्पन्न करते हैं। इन गुणों से छूटना ही मोक्ष (निर्वाण) है। पुरुष प्रकृति से जुदा है यह जान लेने से छूटना सम्भव है। बस, यही प्रकृति-पुरुष के मिलने से जगत्‌रूप बना है, जैसे दूध में से दही बन जाता है। अतएव ईश्वर के मानने की कोई अवश्यकता नहीं। यह कर्म और ज्ञानप्रधान दर्शन है। गौतम बुद्ध भी इसके अनुयायी थे।

(२) योगदर्शन—इसे पतञ्जलि मुनि ने रचा है। सांख्यदर्शन में ईश्वर नहीं माना गया, वह इसमें माना गया है। सभी बातों में यह सांख्य के सिद्धातों को स्वीकार करता है, किन्तु प्रकृति से पुरुष कैसे छूट सकता है, इसकी रीति जो सांख्य में नहीं बतलायी गयी, इसे यह दर्शन बतलाता है। इस दर्शन में कितने ही उत्तम नीति के गुण, प्राणायाम, ध्यान, समाधि इत्यादि साधन भली-भांति, बतलाये गये हैं। सांख्या के साथ योगदर्शन का मतभेद केवल ईश्वर के विषय में है। अतएव एक निरीश्वर-सांख्य और दूसरा सेश्वर-सांख्य भी कहा जाता है। इस दर्शन के ईश्वर में एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ईश्वर इस जगत् से तथा सभी जीवों से सर्वथा भिन्न है, वह परम विशुद्ध पुरुष है, इतने ही से वह ईश्वर कहा जाता है। उसके अनन्य ध्यान से मोक्ष मिलता है।

किन्तु चित्त की वृत्तियों को रोके बिना निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" (योगसूत्र १।२) अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकने के लिये ही इस दर्शन में सुगम उपाय बताये गये हैं। प्राचीन समय में योगसिद्धि होने पर महात्मा लोग श्वास रोक कर सहस्रों वर्षों तक इच्छा होने पर एकासन पर बैठ रहते थे। इच्छानुसार प्राणत्याग करते थे। ऐसे अनेक दृष्टान्त हमारे शास्त्रों में मिलते हैं। अब भी कई-कई स्थानों में योगी पाये जाते हैं, जिन में अनेक प्रकार का अद्भुत समार्थ्य दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की सिद्धियां परमार्थ की दृष्टि से गौण मानी गयी हैं। योग का मुख्य लक्ष्य तो मोक्ष-प्राप्ति ही है।

(३) वैशेषिक दर्शन--इसे महर्षि कणाद ने रचा है। इस दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म आदि ६ पदार्थ हैं उदाहरण—यह वृक्ष, उसका नीला रंग, उसके हिलने-डुलने की क्रिया आदि। इनमें से प्रथम द्रव्य नौ प्रकार का है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। इस जगत् को परमेश्वर ने रचा है। जैसे एक चतुर कारीगर ईंट, पत्थर आदि चतुराई से लगाकर सुन्दर महल बना डालता है, वैसे पृथ्वी, जल, तेज वायु के परमाणु-कण में से ईश्वर इस जगत् की रचना करता है। पर जैसे निर्माणकर्त्ता उन ईंट और महल दोनों से भिन्न है, वैसे ही जगत् का कर्त्ता ईश्वर भी इन परमाणुओं से तथा जगत्

से भिन्न हैं, अर्थात् इस जगत् को उसने अपने में से ही नहीं निकाला किन्तु बाहर रहकर बाहर के पदार्थों से इसे रचा है। दूसरी बात यह है कि जीव और ईश्वर दोनों आत्मा हैं, लेकिन दोनों एक नहीं। ईश्वर जीवों से भिन्न है और जीवों के कर्मानुसार उन्हें सुख-दुःख रूप फल देता है। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य द्रव्यों के धर्म ('विशेष' मुख्य गुण जिनके आधार पर वैशेषिक नाम पड़ा है) निश्चित करना है। इस प्रकार विशेष धर्म का निश्चय कर आत्मा इन जड़ द्रव्यों से भिन्न है, यह इस शास्त्र ने सिद्ध कर बताया है। सांख्य ने प्रकृति और पुरुष को बतलाया; दोनों की भिन्नता किस रीति से अनुभव करना उस रीति का निरूपण योग-शास्त्र ने किया; किन्तु जड़ चैतन्य भिन्न ही हैं इसका विशेष निर्णय इस वैशेषिक दर्शन ने किया।

(४) न्याय--इसे गौतम ऋषि ने बनाया। इसमें सत्य के जानने के साधन—जिन्हें प्रमाण कहते हैं-निश्चित किये गये हैं। किस रीत से किया हुआ अनुमान ठीक हो सकता है, और उसमें कैसी भूलें किस रीति से पकड़ी जाती हैं, इत्यादि बातों की विवेचना न्यायशास्त्र में हैं। वैशेषिक दर्शन में आत्मा और परमात्मा के धर्म जो पृथक् कर बतलाये गये हैं, उन्हें इस दर्शन ने स्वीकार किया है, और उनके लिये कैसे अनुमान आदि प्रमाण हैं उनका भी निरूपण किया है। इसलिए जैसे सांख्य और योग एक जोड़े के हैं, वैसे ही वैशेषिक और

न्याय का दूसरा जोड़ा है। न्यायशास्त्र में प्रत्येक बात तर्कों-सहित प्रमाणों से सिद्ध की गई है। इससे तुम जान सकते हो कि हमारे धर्मशास्त्रों ने अन्धश्रद्धा को स्थान नहीं दिया है।

(५) मीमांसा—इसके रचयिता जैमिनि हैं। इसमें वेद के यज्ञ-भाग के वाक्यों का और उनके आधार पर वाक्य-मात्र का—अर्थ करने की रीति बतलाई है।

(६) वेदान्त--इसके रचयिता बादरायण व्यास मुनि थे। वेदों का अन्त वा सिद्धान्त उपनिषदों में आता है, उनके उपदेशों पर इस दर्शन में विचार किया गया है, इस कारण यह वेदान्त कहा जाता है। उपनिषदों में ब्रह्म वा परमात्मा के विषय में विचार है। उसके सम्बन्ध में ही यह दर्शन है, अतएव ब्रह्ममीमांसा के नाम से भी विख्यात है। पहले कर्म और फिर ज्ञान, पहले कर्म का विचार और फिर ब्रह्म का विचार होना चाहिए, इस कारण, जैमिनि की मीमांसा पूर्वमीमांसा और वेदान्त उत्तर-मीमांसा के नाम से पुकारी जाती है। अतएव ये दोनों मीमांसीय षड्दर्शनों में एक जोड़े के हैं, किन्तु यदि इन दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों का आपस में मिलान करें तो इनमें बहुत मतभेद मालूम होता है। एक ईश्वर भक्ति की आवश्यकता नहीं मानता, दूसरा सब कुछ ईश्वर रूप ही मानता है। एक कर्म को ही-मोक्ष साधन मानता है, दूसरा ज्ञान को मानता है और कर्म को ज्ञान के साथ रखता है और केवल कर्म पर ही निर्भर रहने को अथवा उसे ज्ञान का विरोधी

मानता है। इस दर्शन में मुख्यतया परमात्मा और जीवात्मा, उनका परस्पर सम्बन्ध, परमात्मा को प्राप्त करने के साधन, मोक्ष की स्थिति इत्यादि अनेक महत्व के विषयों पर विचार किया गया है। इसके सिद्धान्तों पर हिन्दूधर्म अवलम्बित है, और इस कारण हमारे शिक्षण में वेदान्त के सिद्धान्तों का अधिकांश में उपयोग किया गया है।

सब दर्शनों में वेदान्त दर्शन का ऐसा महत्व है कि अनेक आचार्यों ने इस पर "भाष्य" कहलाने वाली, गम्भीर अर्थ से भरपूर टीकायें लिखी हैं। ऐसे भाष्यकारों में मुख्य तीन हैं, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य। इनके सिद्धान्त तुम्हें संक्षेप से बताये जाते हैं:।

शंकराचार्य के सिद्धान्त के अनुसार—

(१) कर्म और भक्ति से चित्त शुद्ध होता है, किन्तु इस संसार से मुक्ति पाने का साधन तो ज्ञान ही है।

(२) "ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव तो वास्तव में ब्रह्म ही है"—इस प्रकार का अनुभव ही ज्ञान है।

(३) इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये संन्यास आवश्यक है। जिस घड़ी सच्चा वैराग्य हो, तभी संन्यास लिया जा सकता है, गृहस्थाश्रम करना ही आवश्यक नहीं है।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार—

(१) परमात्मा निर्गुण नहीं, किन्तु समस्त शुभ गुणों से भरपूर है। सृष्टि के जड़-चेतन पदार्थ और चेतन जीव उसके शरीर के अंग हैं। यह शरीर ही परमात्मा का विशेषण, और परमात्मा इस शरीर रूपी विशेषण से विशिष्ट है, इस शरीर-विशिष्ट परमात्मा के सिवाय कोई वस्तु नहीं। इस कारण इस सिद्धान्त का नाम 'विशिष्टाद्वैत' है।

(२) कर्म और आत्म-ज्ञान, ये दोनों मिलकर भक्ति उत्पन्न करते हैं, और भक्ति ही परमात्मा तक पहुंचने का साधन है, भक्ति ही ज्ञान है, किन्तु इसके साथ कर्म हमेशा करते रहना चाहिये, जैसी कि एक महात्मा की सन्तवाणी है:—

हाथ काम मुख राम हृदय सांची प्रीति।
क्या योगी क्या गृहस्थी उत्तम याही रीति॥

वल्लभाचाय के सिद्धान्त के अनुसार--

(१) जैसे अग्नि में से चिनगारियां निकलती हैं अथवा जैसे मकड़ियां अपने ही में से जाला निकालती हैं वैसे ही ब्रह्म में से यह जड़ सृष्टि और जीव निकले हैं। ये जीव और जड़ सृष्टि शुद्ध ब्रह्म ही हैं, और शुद्ध ब्रह्म के सिवाय और कुछ वस्तु नहीं, इसलिये यह सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है।

(२) ज्ञान और वैराग्य ही भक्ति के साधन हैं, परमात्मा के पाने के लिये अन्त में भक्ति ही चाहिये। भक्ति त्रिविध

प्रकार की है। इसमें प्रेमलक्षण भक्ति उत्तम है। शास्त्र के नियम पालन कर ईश्वर का भजन करना 'मर्यादामार्ग' है, और प्रभु के ही आश्रित रहना तथा उसे अपने आपको सौंप देना—जिससे वह हमारी भक्ति की पुष्टि करता रहे—यह 'पुष्टि-मार्ग' है।

इस प्रकार के हमारे शास्त्रकार और आचार्यों के विविध मत हैं। इन विविध मतों से हमें घबराना न चाहिये। सभी हमें कुछ न कुछ सिखाते हैं और इन मतों से ही हमें यह दृढ़ विश्वास होता है कि—निम्न उपायों से उसी एक परमात्मा के ज्ञान को समझाने के लिये भिन्न-भिन्न मार्ग बताये गये हैं।

रुचिनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

(पुष्पदन्ताचार्यस्य)

भिन्न-भिन्न रुचि के कारण मनुष्य सीधे, टेढ़े आदि भिन्न-भिन्न मार्ग का अवलम्बन करते हैं—किन्तु उन सब के पहुंचने का स्थान—हे प्रभु ! तूही है, जैसे जल (नदियों) के लिये समुद्र, तद्वत्।

इन षट्दर्शनों ने जिस प्रकार अनेक सूक्ष्म तर्कों द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान समझाने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार पीछे से बने हुए तन्त्र-ग्रन्थों ने लोगों को सकाम अथवा निष्काम बुद्धि की भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार अनेक प्रकार की "प्रतीकोपासना" की विधि बतायी है। इस प्रतीकोपासना

में जप और ध्यान का भी समावेश किया गया है। तन्त्रों की शिक्षा बता रही है कि इस प्रकार की प्रतीकोपासना से मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध होकर वह अन्त में ईश्वर के निराकार स्वरूप में ध्यान लगाने के योग्य बन जाता है। इसी प्रतीकोपासना का ही नाम 'मूर्तिपूजा' है।

यद्यपि तन्त्रों का मुख्य प्रयोजन स्थूलरूप से मूर्तिपूजा अथवा मन्त्रों के जप द्वारा ईश्वर की भक्ति में मन लगवाना है, परन्तु पिछले समय में पाखण्डी और स्वार्थी मनुष्यों ने तन्त्रों में बहुत से ऐसे प्रकरण भी घुसा दिये जो ज्ञान और भक्ति से सर्वथा विपरीत हैं।

इस समय ऐसे बहुत से पाखण्डी और धूर्त पुजारी और महन्त भी हैं जो अपने पापाचरण और स्वार्थपरायणता के कारण मन्दिरों पर अनेक लांछन लगवा रहे हैं। हम सब को चाहिये कि धर्म की रक्षा में ही सदा तत्पर रहें। मनु महाराज लिखते हैं कि:—

"धर्मो रक्षति रक्षितः" (मनु ८।१६)

❀

४०

जैन तीर्थंकर

चन्द्रशेखर—गुरू जी ! आपने कल मनुष्यों के स्वभाविक मतभेद के कितने ही दृष्टांत दिये। वे सब आचार्य भिन्न भिन्न समय में हुए। वे इकट्ठे बैठ कर किस रीति से निर्णय कर सकते थे ? किन्तु मेरे मन में यह बात आती है कि यदि ऐसा न हो सकता तो बहुत ही अच्छा होता। सब के लिये एक ही मार्ग का निर्णय होता और आजकल जो झगड़े होते हैं, वे न होते।

गुरुजी—तुम्हारा कथन ठीक है। जैसे बने वैसे हमें एक दूसरे की समानता देख एकता बढ़ानी चाहिये, इसमें ही भलाई है, किन्तु सबके लिए एक ही मार्ग होना अच्छा है, यह मानना उचित नहीं। अज्ञान का किला ऐसा विशाल और दुर्भेद्य है कि उस पर तो हजारों वीर सिपाही चारों ओर से, भिन्न भिन्न दिशाओं से आक्रमण करें, तभी यह जीता जा सकता है। सिपाहियों की एक सीधी अखंड पंक्ति एक किले के आक्रमण में कृतकार्य नहीं हो सकती। दूसरा उदाहरण लो। यदि सरकार यह आज्ञा दे कि इस नर्मदा नदी के सैकड़ों मील लम्बे किनारे पर रहने वाले सभी ग्राम वाले एक ही ठिकाने से नदी पार उतरें, तब तुम उस आज्ञा के बारे में क्या कहोगे ? इसी

प्रकार यह समझना चाहिये कि इस संसाररूपी नदी के पार करने के लिये ही महापुरुषों ने अनेक घाट बनाए हैं, अनेक छोटी-बड़ी नावें चला करती हैं—इनका हम अपनी अनुकूलता और आवश्यकता के अनुसार लाभ उठावें, इसमें ही भला है। एक बात स्मरण रखना कि सब को सामने के किनारे पर ही जाना है, कहाँ से जाना और किस रीति से जाना है, इसे हमें अपने स्थान और स्थिति आदि को देखकर निश्चित करना चाहिए। आज मैं ऐसे ही एक बड़े घाट बनाने वाले और नदी पार करने के छोटे बड़े अनेक साधनों के आविष्कार करने वाले के विषय में तुम्हारे समक्ष वार्तालाप करूंगा। पहली दी हुई उपमा के अनुसार, आज मैं अज्ञान के किले पर घोर आक्रमण करने वाले एक महान् सेनापति और उसके शस्त्र के बारे में कुछ बात-चीच करना चाहता हूँ। बालकों! यह कहो कि तुम्हें हिन्दू-धर्म की व्याख्या तो याद है न ?

चन्द्रशेखर—हाँ महाराज, सिन्धु, गंगा यमुना के प्रदेशों में जो धर्म उत्पन्न होकर वहां से फैला, वही हिन्दू-धर्म है।

गुरुजी—ठीक! मुझे आशा है कि तुम्हें यह भी स्मरण होगा कि इस भूमि में जैसे इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की स्तुति और उनके निमित्त यज्ञ होते थे, वैसे ही इन सब देवताओं में विराजमान परमात्मा कैसा है और वह किस रीति से मिल सकता है, इनके विचार करने में बहुत स्त्री पुरुष संलग्न थे। इसमें कितने ही जनक राजा जैसे राजकाज करते थे और कितने

ही सुकदेव जी जैसे परमहंस-सन्यासी होकर रहते थे। इस पिछली तरह के दो अवतारसदृश महापुरुष (महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध) ऐतिहासिक काल में वि० सं० से पूर्व ५०० वर्ष से ऊपर गंगा के प्रदेश में हुए थे। उनमें पहले महावीर स्वामी थे। उनका उपदेश किया हुआ धर्म "जैन-धर्म" कहलाता है। जैन शब्द 'जिन' शब्द से ही बना है—जिन अर्थात् जीतने वाला (इस संसाररूपी मोह के गढ़ को जीतने वाले)। उन्होंने इस संसाररूपी नदी के पार करने का पुल बनाया था तथा उसे तैरने के लिये शास्त्ररूपी छोटे मोटे साधन रचे, इस कारण वे तीर्थंकर भी कहलाते हैं।

४१

ऋषभदेव और महावीर स्वामी

जैन-धर्म में २४ तीर्थंकर हुए बतलाते हैं, उनमें पहले ऋषिभदेवजी और पिछले महावीर स्वामी हुए। ऋषभदेवजी अत्यंत प्राचीनकाल में हुए थे, और ब्राह्मण लोग भी उन्हें विष्णु के २४ अवतारों में से एक मानते हैं, और उनके वैराग्य, तप तथा परमहंसवृत्ति की प्रशंसा करते हैं। जैन-शास्त्रों में कहा है कि उनके समय में लोग लिखना-पढ़ना न जानते थे, इतना ही

नहीं, परन्तु भोजन बनाना आदि सभ्य मनुष्यों के साधारण कर्म भी वे न जानते थे। ऋषभदेव जी ने गद्दी पर आकर उन्हें ये सब बातें सिखाईं और लेखन, गणित, पाकशास्त्र आदि अनेक विद्यायें और कलायें उन्हें बतलाईं। वृद्ध होने पर अपने लड़कों को राज्य बांट कर वे तप करने निकले और आत्मा का स्वरूप पहिचान कर 'केवली' हुए, अर्थात परमज्ञान की दशा में पहुँचे।

महावीर स्वामी भी इसी भांति क्षत्रिय राजकुमार थे। बालकपन से ही उनकी वृत्ति वैराग्य ओर थी, परन्तु इसके साथ ही वृत्ति इतनी कोमल थी कि अपने प्यारे माता-पिता को छोड़ उनका मन दुखा कर एकदम साधु हो जाना उन्हें अच्छा न लगा। इसलिए उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया, किन्तु माता-पिता के मरने पर अपने बड़े भाई की आज्ञा लेकर ३० वर्ष की आयु में वे साधु हुए। वे साधु होकर विचरने लगे। उस समय के उनके परिग्रह (साथ ली हुई वस्तु) के विषय में दो मत हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि वे पहले ही से दिगम्बर रहे थे और पाणिपात्र थे, अर्थात हाथ में ही भिक्षा लेते थे। दूसरे लोग यह कहते हैं कि उन्होंने पहली भिक्षा तो पात्र में ही ली थी, इसलिए साधुओं को ऐसा ही करना उचित है, फिर दीक्षा लेने के समय इन्द्र के दिए हुए वस्त्र भी कुछ समय तक उन्होंने रखे थे, इसलिए साधुओं को भी आवश्यक वस्त्र रखना उचित ही है। वह वस्त्र उनके शरीर से किस

प्रकार उतरा, इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्हें एक दरिद्र ब्राह्मण रास्ते में मिला, जिसे आधा वस्त्र फाड़ कर उन्होंने दे दिया। फिर वह ब्राह्मण दरजी के पास उस कपड़े की कोर लगवाने गया। वहाँ दरजी ने उससे कहा कि कपड़ा बहुत मूल्यवान् है, और इसका दूसरा आधा हिस्सा ले आओ तो मैं दोनों को मिला कर एक उत्तम वस्त्र बना दूंगा। ब्राह्मण फिर महावीर स्वामी के पास गया, किन्तु अब दूसरा कैसे मांगूं, इस तरह मन-ही-मन सङ्कोच करता हुआ वह स्वामी जी के पछे हो लिया। इतने में यह शेष आधा वस्त्र कांटों में उलझ गया। स्वामी जी ने उसे कांटों से न निकला। फिर ब्राह्मण ने उसे ले लिया। उस समय से महावीर स्वामी बिलकुल दिगम्बर रहे। इन दो बातों में से सत्य जो कुछ भी हो, किन्तु इतना निर्विवाद है कि महावीर स्वामीका वैराग्य बहुत तीव्र था। दीक्षा लेने के बाद १२ वर्ष उन्होने तप में बिता कर उत्तम ज्ञान प्राप्त किया, और तत्पश्चात् ३० वर्ष धर्मोपदेश कर निर्वाण पाया। अपने संन्यास की दशा में वे जिस भाग में मुख्यतया फिरा करते थे, वह अब भी उनके विहार करने के कारण 'विहार' नाम से प्रसिद्ध है।

❀

जैन-धर्म का मुख्य उपदेश

धर्मचन्द्र—गुरुजी जेन-धर्म में ऐसे कौन से तत्व हैं जिनके बारे में उनके सभी शास्त्रों का एक मत है ?

गुरुजी—

(१) अहिंसा— 'अहिंसा परमो धर्मः' अहिंसा यह बड़े से बड़ा धर्म है, यही जैन-धर्म का बड़े से बड़ा सिद्धान्त है। इस धर्म के सस्त आदेश और सारे आचार-विचार अहिंसा के आधार पर स्थित हैं। जैन-धर्म में न केवल यज्ञादिक में वा सामान्य खानपान में हिंसा का निषेध किया गया है, प्रत्युत मनुष्य की सभी क्रियाओं को सूक्ष्मता से खोज कर उनमें कहाँ कहाँ हिंसा का प्रसङ्ग आता है, यह भली भांति दिखलाया गया है। हिंसा के कारण मनुष्य को क्रियाओं में बाधा पड़ने पर यदि और कुछ न बन पड़े तो हिंसा जहाँ तक कम हो सके, होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में जैन-धर्म में मार्ग खोज निकाले गये हैं, अर्थात् जिन प्रसङ्गों में हिंसा अपरिहार्य हो उनमें भी वह न्यूनातिन्यून किस प्रकार हो सकती है इत्यादि बातों का विवेचन किया गया है। जैन धर्म में 'षट् जीवकाय' (१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) वनस्पति और (६) त्रस (जङ्गम प्राणी जो त्रास-भय देख कर एक स्थल से

दूसरे स्थल में जा सकता है) इस प्रकार छः तरह के जीव माने गये हैं और उनकी रक्षा के लिये उपदेश किया है।

जैन-धर्म का दूसरा बड़ा आग्रह तप के लिये है। उपवासादिक से शरीर और इन्द्रियों का दमन करना वे आवश्यक समझते हैं। वे मन की वृत्तियों का जय निष्फल नहीं मानते और न उसे कम महत्व देते हैं, तथापि देह का और मन का ऐसा गाढ़ा सम्बन्ध है कि देह और इन्द्रियों के दमन विना मन का जीतना असम्भव है, यह उनका मत है। इस कारण जैन-धर्म में उपवास करना बहुत ही आवश्यक है। साधु होने के पहले जो केशलुञ्चन की विधि है, वह भी इसकी परीक्षा के ही लिये है।

(३) वैराग्य पर जैन लोग बहुत जोर देते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य का परमपरुषार्थ इस संसार की समृद्धि नहीं किन्तु कैवल्य स्थिति वा निर्वाण अथवा शान्ति है।

(४) जैन जगत् को अनादि मानते हैं और यह भी कहते हैं कि कर्म के महानियम से सब कुछ चलता है। मनुष्य किये कर्म को भोगे बिना छूट नहीं सकता; और जैसा करूंगा वैसा पाऊंगा, इस सिद्धांत पर जो कि हिन्दू धर्म के ब्राह्मण-शास्त्रों का भी मत है, जैनों का दृढ़ विश्वास है और इसे वे बड़ी अच्छी तरह से समझते हैं।

(५) वे जगत् के कर्ता ईश्वर को नहीं मानते, लेकिन ऋषभदेव आदि रागादिदोषरहित और लोक के उद्धारक जो

तीर्थङ्कर हो गये हैं, उनकी वे भगवान् की तरह पूजा करते हैं। संसार में भक्ति के नाम अज्ञान और अन्धविश्वास फैल जाते हैं, तब कर्मप्रधान उपदेशों की आवश्यकता होती है।

आज मैं यही कहने वाला था।

इसके अतिरिक्त जेन-धर्म के तत्वज्ञान में 'स्याद्वाद' नाम का एक बड़ा सिद्धांत है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु इस प्रकार की है वा उस प्रकार की है, इस तरह उसका एक ही रूप से निरूपण नहीं किया जा सकता। एक वस्तु एक रूप में हो, दूसरे रूप में न हो, एक स्थल में हो और दूसरे स्थल में न हो, एक काल में हो और दूसरे काल में न हो ऐसा नहीं है, इत्यादि। इस प्रकार एक ही भिन्न-भिन्न रीति से देखते हुए भिन्न-भिन्न तरह की मालूम होती है। यह बात ध्यान में रखने से आपस के मतभेद के झगड़ों का नाश हो जाना सम्भव है। यह जैनधर्म की महत्वपूर्ण गवेषणा का फल है।

❀

४३

जैनव्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण

गुरुजी—बालकों! अमुक मनुष्य का जीवन धार्मिक है वा नहीं, इसकी खरी कसौटी उसका चरित्र—उसकी नीति है। वह चरित्र ज्ञान से बनता है, वह ज्ञान शास्त्रों के देखने से मिलता है। तदनुसार जैन-धर्म में, 'दर्शन' 'ज्ञान' और 'चरित्र' ये तीन रत्न माने गये हैं।

अब सुन्दर चरित्र-गठन के लिये पांच व्रत अर्थात् नियम का पालन करना चाहिये। यह निम्न प्रकार के हैं:—

(१) अहिंसाव्रत—हिंसा न करना, अर्थात् 'प्राणातिपात' हिंसा का दोष—न हो, यह देखना चाहिए। छोटे बड़े स्थावर-जङ्गम किसी भी जीव की मन-वचन-काय से कभी हिंसा न करना न कराना, कोई मारता हो तो उसका अनुमोदन भी न करना।

(२) सत्यव्रत—असत्य न बोलना। मन, वचन, काय से, क्रोध से, लोभ से भय से, हंसी में कभी झूठ न बोलना, न बुलवाना और न उसका अनुमोदन ही करना।

(३) अस्तेयव्रत—चोरी न करना, बिना दी हुई वस्तु न लेना। मन वचन से छोटी-बड़ी कोई भी वस्तु बिना दी हुई न लेना, न किसी को लेने देना और न लेने का अनुमोदन करना।

(४) ब्रह्मचर्यव्रत--मन-वचन-काय से किसी तरह भी ब्रह्मचर्य न तोड़ना, न तुड़वाना, न तोड़ने का अनुमोदन करना।

(५) अपरिग्रह—परिग्रह (संग्रह) न करना—अर्थात् अपने आस-पास वस्तुयें न रखना, न रखवाना, न रखने का अनुमोदन करना। गृहस्थ को जहाँ तक हो सके कम से कम वस्तुयें रखनी चाहियें और उन्हें धीरे-धीरे घटा कर अन्त में साधु होकर छोड़ देना चाहिये।

अब बालकों, यह बतलाओ कि यह अहिंसा सत्य आदि के नियम तुमने किसी दूसरे स्थल में पढ़े हैं।

गोविन्द—हाँ महाराज, उस दिन इन दीवारों पर सामान्य धर्म के लेख लटकाये गये थे, उनमें मैंने कुछ ऐसा ही पढ़ा था।

गुरुजी—तुम्हें ठीक याद है। ये व्रत वेदधर्म की बहुत पुस्तकों में (मनुस्मृति, योगसूत्र आदि में) उल्लिखित हैं और जैन-धर्म में ये माने गये हैं। इसका कारण यह है कि वे सब मूल में एक ही हैं, किन्तु जैन शास्त्रकारों ने इनका जो ठीक ठीक और सूक्ष्म विवेचन किया है, वह देखने ही योग्य है। मन, वाणी और काय के कर्म, ऐसे तीन भेद इनमें रखे हैं, करना, कराना और अनुमोदन करना। इस प्रकार से उन भेदों के और भी अवान्तर भेद किये गये हैं। ऐसा होने से हिंसा, झूठ, चोरी आदि के विचार मन में लाना, अथवा कोई ऐसे विचार करता हो, उन्हें पसन्द करना यह भी हमें

पाप का भागी बनाता है। इस बात की ओर जैन पण्डितों ने हमारा अच्छी तरह से ध्यान खींचा है।

इस के अलावा जैन-धर्म में मन तथा इन्द्रियों को धर्म मार्ग में प्रेरित करने वाली आवश्यक क्रियाओं में स्वामी की स्तुति वन्दना के साथ (१) सामायिक और (२) प्रतिक्रमण हैं।

(१) सामायिक--मन को समता सिखाना चाहिये। इस संसार में सब वस्तुएं हमें इच्छानुसार कैसे मिल सकतीं है। बाग है, ठण्ड भी होगी, जाड़ा भी होगा, गरमी भी, बगीचे भी होंगे और कांटे-झाड़ भी होंगे—संक्षेप में सुख भी होगा और दुःख भी होगा, तथापि सुख-दुःख में मन को डांवाडोल न होने देकर उसे समता की दशा में रखना चाहिए। प्राणिमात्र पर एकसा भाव रखना चाहिए। इसके लिए हर एक जैन को हमेशा दो घड़ी चित्त को स्थिर रख कर स्वाध्याय और ध्यान रखने (करने) की आज्ञा है। यह 'सामायिक' अथवा समता से अनुशीलन करने की विधि है।

(२) ऐसी ही दूसरी आवश्यक क्रिया 'प्रतिक्रमण' है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अशुभ एवं पाप से पीछे लौट कर शुभ की ओर चलना चाहिए।

मनुष्य दिन-रात में जाने-अनजाने कुछ न कुछ पाप किये बिना नहीं रहता, किन्तु सांझ सवेरे अपने पापों का विचार कर, जो हो गया उसके लिए मन में पश्चाताप कर भविष्य में

यदि वह वैसा न करने का निश्चय करे तो इससे उसका जीवन बहुत सुधर जायगा। इसलिये जैन शास्त्रकारों ने 'प्रतिक्रमण' अर्थात पापों को स्वीकार कर पुण्यमार्ग पर चलने का विधान किया है। रात और दिन के विभागानुसार दो प्रतिक्रमण होते हैं। रात का सवेरे, और दिन का सायंकाल को प्रतिक्रमण किया जाना चाहिए।

❀

४४

जैन बन्ध और मोक्ष

गुरुजी—बालकों ! देखो, यह सरोवर कैसा सुहावना मालूम होता है !

आनन्द—महाराज, बहुत सुहावना है आज हम लोग यही बैठें।

गुरुजी—अब यहाँ बैठने में कोई हानि नहीं। पहले इस जगह बहुत दुर्गन्ध आती थी, किन्तु राजा की आज्ञा से गांव का मैला पानी इसमें जाने से रोक दिया गया है, क्योंकि उससे सरोवर बिगड़ता था और रोग फैलते थे।

(सब सरोवर के किनारे बैठे)

गुरुजी—बालकों, इस सरोवर की बात से मुझे जैन-धर्म का एक सिद्धान्त याद आता है। उस सिद्धान्त की संज्ञा आस्रव और संवर है। आत्मा में कर्म का बहाना यह आस्रव का सरल अर्थ है। जैसे गाँव का मैला पानी नालों में होकर सरोवर में बहता है और उसे मैला कर डालता है, वैसे ही इस संसार के विषय, इन्द्रिय आदि नालों में होकर आत्मा में प्रवेश करते हैं और आत्मा को बिगाड़ देते हैं। एक दूसरा दृष्टान्त यह दिया जाता है कि जैसे भीगे वस्त्र पर धूल आ पड़ती है और उससे चिपट जाती है, वैसे ही क्रोध, अभिमान आदि दुष्ट वृत्तियों से लिप्त आत्मा को इस संसार के कर्म चिपट जाते हैं। इन दुष्ट वृत्तियों को कषाय (मैल) कहते हैं। कषाय चार प्रकार के हैं—क्रोध, अभिमान, माया (कपट) और लोभ।

आस्रव को जो अच्छी तरह रोक दे वह संवर है, अथवा आस्रव अर्थात् प्रवाह का द्वार ही जो बन्द कर सके, उसे संवर कहते हैं। कर्मरूपी बन्धनों से मोक्ष पाने के लिये संवर करना अर्थात् आस्रव का रोकना चाहिये, किन्तु आस्रव के रोकने मात्र ही से हमारे कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। नये कर्मों के विषय में आस्रव का करना उचित है, किन्तु पुराने कर्मों का बीज नाश करने के लिये संवर के साथ निर्जरा की आवश्यकता है। निर्जरा अर्थात् उत्पन्न हुए कर्मों का तप,

उपवासादिक ज्ञान के साधनों द्वारा छिन्न-भिन्न करना 'निर्जरा' है। ऐसा करने से अन्त में संसाररूपी बन्धन नष्ट हो जाते हैं और हमें मुक्ति मिलती है।

५४

गौतम बुद्ध

गुरुजी—उस समय अज्ञान के कारण देवताओं की भक्ति के नाम पर पशुहिंसा बहुत बढ़ गई थी। इस लिये उस अन्ध श्रद्धा का नाश करने के लिये और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति कराने के लिये जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी के ही समय में किन्तु उनसे कुछ पीछे वि० पू० छठी शताब्दी में बौद्ध-धर्म के (हिन्दूधर्म की तीसरी शाखा) के भगवान् गौतम बुद्ध हुए। उनके समय तक प्राचीन धर्म में अनेक फेरफार हो चुके थे। एक ओर जन समाज में कहीं-कहीं ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का उपदेश फैल रहा था, उसके साथ ही दूसरी ओर प्रजा के अधिक भाग में कर्मकाण्ड के जाले भी बहुत पुरे हुए थे और कवि, भक्त, ज्ञानी, साधुओं के स्थान टीकाकार, वादविवादी, कर्मकाण्डी और मूर्ख तपस्वियों ने ले लिये थे। ऐसे समय में धर्मपरित्राण के महानियम का अनुसरण कर 'जब-जब धर्म का नाश होता है

और अधर्म का उदय होता है, तब तब धर्म का फिर उद्धार करने के लिये मैं अवतार लेता हूँ' इस गीता में कहे हुए भगवान् के वाक्य के अनुसार गौतम बुद्ध का अवतार हुआ। भगवान् बुद्ध विष्णु के ही अवतार थे, यह पुराणों के निम्न उल्लेख से सिद्ध होता है:—

"कर्तुं धर्मव्यवस्थानमसुराणां प्रणाशनम्,
बुद्धो नवमको जातस्तपसा पुष्करेक्षणः'।

(मत्स्य पुराण ४७-२४७)

धर्म की व्यवस्था और राक्षसों के विनाश के लिये भगवान् विष्णु ने नवां अवतार बुद्ध का धारण किया।

"बुद्ध" अर्थात् बोध पाये हुए, जागे हुए ज्ञानी को कहते हैं। संसार में अज्ञानी मनुष्य ही सोए हुए मानने चाहिये और ज्ञानी लोग ही सचमुच जागे हुए समझने चाहिए। इस कारण उन्हें बुद्ध का विशेषण देना यथार्थ ही है। जैसे ब्राह्मण धर्म में विष्णु के चौबीस अवतार और जैन-धर्म के चौबीस तीर्थंकर हैं, वैसे ही बुद्ध धर्म में चौबीस बुद्ध हैं। इन चौबीस बुद्धों में केवल गौतम बुद्ध के जीवन-चरित्र के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, जिनका वर्णन तुम्हें सुनाया जाता है। गंगा के उत्तर प्रदेश में हिमालय की तलेटी में कपिलवस्तु नाम का नगर था। वहाँ वि० सं० पूर्व छठे शतक में शुद्धोधन नाम का राजा राज्य करता था। उसके यहाँ रानी की बड़ी अवस्था में राजकुमार का जन्म हुआ। माता-पिता की पुत्र की इच्छा सफल हुई—सिद्ध हुई—इसलिए उनका नाम सिद्धार्थ रखा

गया। वे गौतम गोत्र के होने के कारण गौतम कहलाए और कालान्तर में इस संसाररूपी अज्ञान की निद्रा में से वे जागे, इस लिए 'बुद्ध' यह आदरणीय विशेषण उनके साथ प्रयोग किया गया। योग्य अवस्था होने पर यशोधरा नाम की एक राजकन्या से उन्होंने विवाह किया, और उससे राहुल नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जन्मे तब से २६—३० वर्ष तक का उनका वृत्तान्त हम नहीं जानते किन्तु हम सहज ही में अनुमान कर सकते हैं कि वह समय युवावस्था के अनेक सुख भागने में व्यतीत हुआ हागा। परन्तु गोतम बुद्ध की आत्मा में पवित्र संस्कार थे, वे इन्द्रियों के सुख में लिप्त न हो सकते थे। लोग कहते हैं कि बालकपन में ही उनके पिता से एक ज्योतिषी ने कहा था कि यह कुमार आगे चलकर एक भारी संन्यासी होगा। राजा को यह भविष्यवाणी अच्छी न लगी, और इस कारण उसने संसार के सुख भरे हुए एक महल में ही उनके बहुत काल तक रहने का प्रबन्ध कर दिया। यह कहा जाता है कि एक दिन वे रथ में बैठ कर बाहर फिरने निकले, वहाँ उन्होंने एक बृद्ध आदमी को, जिसकी कमर झुक गई थी, मुंह से लार टपकती थी, चलने में ठोकर लगती थी, इत्यादि बुढ़ापे के अनेक दुःखों में दुःखी देखा।

राजकुमार, जिनका समय आज तक सुख-ऐश्वर्य की सामग्री से भरपूर एकांत राजमहल में बीता था, इन सब दृश्यों से बहुत ही चकित हुए। जब उनके सारथी ने उन्हें समझाया

कि ये वस्तुयें—जरा, व्याधि और मरण तो संसार में बहुत साधारण हैं, तब उनके पवित्र मन में तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ किन्तु उन्हें क्या करना चाहिये, यह न सूझता था। एक बार वे फिरने निकले, वहाँ उन्होंने सामान्य पोशाक से एक भिन्न ही तरह की पोशाक वाला मनुष्य देखा, उसे देख उन्होंने सारथी से पूछा, "यह किस तरह का मनुष्य है ?" सारथी ने उत्तर दिया कि यह संन्यासी है। राजकुमार ने पूछा कि संन्यासी किसे कहते है ? सारथी ने कहा कि जो संसार को दुःखरूप समझ कर उसे छोड़ देता है, वह संन्यासी कहलाता है। गौतम ने यह सुन कर संसार छोड़ कर चले जाने का विचारा किया और इसके साथ दुःख के निवारण का उपाय भी ढूंढ निकालने का निश्चय किया। नित्य नियमानुसार रात्रि के गान-तान हो चुकने के पश्चात शयन-गृह में गये, किन्तु निद्रा न आई। रानी यशोधरा और बालक राहुल सोये पड़े थे, वे उनके पास गए। बालक को उठा कर उससे मिलने का मन हुआ, किन्तु रानी का एक हाथ बालक पर पड़ा था, उसे उठा कर यदि बालक को लेने जाँय तो रानी जाग उठेगी, जाग उठने पर फिर वह अपने प्यारे पति को संसार कैसे छोड़ने देगी ! न छोड़ने दे तो फिर क्या करना, इत्यादि इस प्रकार के अनेक विचार उनके मन में आने लगे। अन्त में सब संकल्प-विकल्प छोड़ अपने तथा असंख्य जीवों के कल्याण के लिए सिद्धार्थ यशोधरा और राहुल को ज्यों का

त्यों छोड़, महल से एक श्वेत घोड़े पर सवार हो, चल दिये। यह बड़ी घटना—सिद्धार्थ के जीवन की एवं जगत् के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना—बौद्ध धर्म के शास्त्रों में महाभिनिष्क्रमण के नाम से प्रसिद्ध है।

सिद्धार्थ रातो-रात घोड़े पर बहुत दूर निकल गये। एक नदी के किनारे वे घोड़े पर से उतरे और तलवार निकाल उससे अपने हाथ से अपने सुन्दर केश काट डाले तथा अपने आभरण और वस्त्र उतार कर घोड़े वाले को दे दिये। उसे कपिलवस्तु की ओर वापिस भेज वह साधु के वेश में आगे चले। थोड़े समय तक पास की आम की वाटिका में रह मगध की राजधानी, राजगृह की ओर वे चल पड़े। वहाँ के राजा ने उनका सम्मान किया और उनसे आचार्य पद स्वीकार करने के लिये कहा, किन्तु उन्होंने इस पद के लिये अपनी योग्यता न मान रखी थी, इस कारण उसे स्वीकृत नहीं किया। फिर उन्होंने एक ब्राह्मण के पास तत्वज्ञान का अध्ययन किया, लेकिन उनके सिद्धान्तों से सिद्धार्थ को सन्तोष नहीं हुआ, इसलिये वे आगे चले। एक ठिकाने पर कितने ही ब्राह्मणों को यज्ञमें पशुओं का होम कराते हुए देखा, यह तो उनकी दयार्द्र आत्मा को अतीव घृणित लगा। गया नामक ग्राम में जाकर उन्होंने तप आरम्भ किया। ६ बरस तक कठोर तपश्चर्या करने से उनका शरीर काष्ठवत् सूख गया और निर्बलता बढ़ी। एक समय वे पास की नदी में नहाने गये थे, वहाँ उन्हें पानी में से उठना

भी भारी हो गया। अन्त में किनारे पर के वृक्ष की डाल पकड़ वे खड़े हुए और आश्रम की ओर चले, किन्तु चल न सके। रास्ते में वे बेसुध हो गिर पड़े। एक कन्या पास हो कर जा रही थी, उस ने उन्हें दूध पिलाया और आश्रम में पहुंचाया। इतना देह-कष्ट उठाने पर भी संसार के दुःख का निदान—वैद्य जिस भांति रोग का कारण खोज निकालता है उस तरह—और उस दुःख के निवारण करने का उपाय उन्हें कुछ भी न सूझा। अत्यन्त देहकष्ठ सहन करने पर भी वह नहीं सूझता। अन्त में 'मध्यम प्रतिपदा' का सिद्धान्त अर्थात् बीच का मार्ग ही सर्वथा श्रेष्ठ है, यह उनकी समझ में आया। अब से शरीर के पोषणार्थ कुछ अन्न लेने लगे, गई हुई शक्ति फिर आ गई। वे एक रात्रि के समय गया के पास एक वृक्ष के नीचे ध्यान करते बैठे हुए थे। आज तक जिस सत्य के खोजने के लिये उन्होंने अनेक कष्ट सहे थे, उसका उनकी अन्तरात्मा में सहसा ज्वलन्त प्रकाश हुआ। उन्हें ज्ञान हुआ, वे जग पड़े, वे बुद्ध हुए। इस समय उनकी उम्र ३५ वर्ष की थी।

'मैं तो जागा, किन्तु जगत् को जगाऊं तभी मेरा कल्याण होगा' इस प्रकार विचार कर वे उठे और काशी की तरफ चल पड़े। जिन ब्राह्मणों ने पहले यह निश्चय किया था कि इस तपोभ्रष्ट साधु को प्रणाम न करेंगे, वे इस समय उन के ज्ञान के तेज से खिंच कर सामने गये और उनका सत्कार किया। बुद्ध भगवान् ने उन्हें 'चार आर्यसत्यों का'—जो सत्य उस ध्यान

की रात्रि में एक एक पहर के बाद उन्हें प्रकाशित हुए थे—उपदेश किया और तभी से 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' का आरम्भ हुआ। पास के गाँव से बहुत लोग उ का उपदेश सुनने के लिये आने लगे। उ के शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। तब से ४५ वर्ष तक बुद्ध भगवान् ने धर्म-चक्र चलाया। वह धर्म काल-क्रम से भारतके बाहर भी चला। ठेठ चीन, तिब्बत, मङ्गोलिया, जापान, मिश्र, काबुल, पलेस्टाइन, लङ्का, ब्रह्मदेश, सुमात्रा, जावा आदि देशों में हिन्दू-धर्म की यह बड़ी शाखा फैल गई। बुद्ध भगवान् ने अनेक ब्राह्मणों को सच्चा ब्राह्मणपना क्या वस्तु है इसे बतला कर अपने संघ में भर्ती किया। यही नहीं, परन्तु नाई, अन्त्यज गणिका आदि अधम और पापी गिने जाने वाले मनुष्यों को दया से उन्होंने संघ में सम्मिलित किया। उनमें से कितने ही तो बड़े उपदेशक बन गये। धर्म प्राप्त करने में कोई नीच-ऊंच जाति का भेद उन्होंने नहीं माना।

विचारचन्द्र—गुरुजी, उन बेचारे यशोधरा और राहुल का क्या हुआ ?

गुरुजी—क्या हुआ। सुनो, ऐसे महापुरुष के कृत्य से किसी की हानि होती ही नहीं। यशोधरा और राहुल, जिन्हें सोये हुए छोड़ कर बुद्धदेव गये थे, उन्हें फिर उन्होंने आकर जगाया—अच्छी तरह से जगाया। वे भी भिक्षु-भिक्षुणी के संघ में सम्मिलित हुए।

लड़के गौतमबुद्ध के जीवन की यह मनोहर वार्ता सुन बहुत प्रसन्न हुए। वार्ता लम्बी होने से आज के धर्मशिक्षण में नित्य से कुछ अधिक समय लगा, परन्तु वह कहाँ गया यह न मालूम हुआ।

२६

गौतम बुद्ध का मुख्य उपदेश

गुरुजी—बालकों ! गौतमबुद्ध के उपदेश का सब सार उनके जीवन में ही है, यह कहना बिलकुल यथार्थ है। इसलिए तुमसे उनका जीवन-चरित्र विस्तारपूर्वक कहा। तो भी उनके उपदेश में से कुछ चुने हुए सिद्धान्त, एकत्र किये हुए, तुम साव-धान होकर सुनो। (१) भगवान् गौतमबुद्ध ने संसार में जरा, व्याधि और मरण देखे। इनके आधार पर उनके अत्यन्त दयार्द्र हृदय में यह बात चुभसी गई कि वस्तुमात्र क्षणिक हैं, और दुःखरूप हैं। अपने ऊपर दुःख पड़ने से संसार दुःखमय है, इस प्रकार का बोध तो बहुत साधारण मनुष्यों को भी हो जाता है, किन्तु बुद्ध भगवान् के बोध में यह विशेषता थी कि उन्हें स्वयं दुःख भोगने का प्रसंग नहीं हुआ था, प्रत्युत स्त्री-पुत्र, लक्ष्मी आदि संसार के सब सुख उन्हें पूर्णरूप से प्राप्त थे, तथापि एकमात्र उच्च दयामय वृत्ति से उन्होंने स्वयं इस महान सत्य का साक्षात्कार किया।

(२) संसार दुःखरूप है, यह जान लेना तो बहुत सरल है किन्तु दुःख का निदान ढूंढ निकालना और उसके निवारण के उपाय सोच निकालना, इनमें बुद्धि की सूक्ष्मता और परोपकार वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। बुद्ध भगवान् ने सोचा कि

दुःख के बाहर के उपचार व्यर्थ हैं। वैद्यक में जिसे निदान अर्थात् बीज कहते हैं, उसे खोज निकालना चाहिये और फिर उसका उपाय करना चाहिये। रोग के निदान किये बिना औषधि करना उष्ट्र-वैद्यता या कुचिकित्सा है। इस प्रकार संसार रूपी रोग के इस महान् चिकित्सक ने (वैद्य ने) विचार कर यह निदान किया कि सारे दुःख, जीवन की तृष्णा में से-वासना में से उत्पन्न होते हैं। 'मैं जीऊं, मैं जीऊं चाहे जो हो, किसी को दुःख दे कर भी जीऊं,' यह जीवन तृष्णा ही दुखों का मूल है। इसलिये अहन्ता का त्याग करना चाहिये और अहंभाव के त्याग को ग्रहण करना चाहिये, यह बुद्ध भगवान् ने दूसरा सिद्धान्त स्थिर किया। सिद्धार्थ ने यह देखा था कि उस समय लोग आत्म-वाद का आश्रय लेकर बहुत ही स्वार्थपरायण हो गए थे। इस आत्म (अहं) के मोह से मनुष्य संसार में असंख्य पाप करते थे, इतना ही नहीं, बल्कि यज्ञ में अज्ञान के कारण देवता, वेद, धर्म और ईश्वर के नाम अगणित पशुओं का बलिदान देकर वे यही आशा किया करते थे कि मरने के बाद हमारी आत्मा स्वर्ग में जायगी। अतएव अहन्ता के नाश होने से तृष्णा दूर होगी और तृष्णा के दूर होने से दुःख का नाश होगा, यही सिद्धान्त उन्होंने निश्चित किया।

(३) तृष्णा और तृष्णा में से उत्पन्न होने वाले उपादान (रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय ग्रहण करना) का नाश होने से पुनर्जन्म और पुनर्जन्म के साथ जुड़े हुए

जरा-मरण-व्याधि आदि दुःखों का नाश हो जाता है—जिन दुखों को उस दिन राजकुमार ने मार्ग में आश्चर्य और शोक से आकुलित होकर देखा था और जिनका उपाय ढूँढ़ने के लिये उन्होंने अभिनिष्क्रमण किया था।

(४) ऐसी दुःखरहित स्थिति का नाम निर्वाण है। निर्वाण अर्थात् बुझ जाना। मनुष्य के हृदय में अहन्ता और राग-द्वेष की जो वृत्तियां हैं, उनका बुझ जाना ही निर्वाण शब्द का अर्थ है। जिसको दर्द हो रहा हो, उसके दर्द मिटाने पर स्वास्थ्य की दशा आती है।

आरोग्यपरमा लाभा संतुट्ठी परमं धनं।
विस्सास परमा ञाति निब्बाणं परमं सुखं॥

(धम्मपद १-५८)

आरोग्यं परमो लाभः, सन्तुष्टिः परमं धनं।
विश्वासः परमा ज्ञातिः, निर्वाणं परमं सुखम्॥

अर्थात—नीरोग होना परम लाभ है, सन्तोष परम धन है, विश्वास सब से बड़ा बन्धु है, निर्वाण सब से बड़ा सुख है।

ये चार सिद्धांत ही 'चार आर्यसत्य' हैं, अर्थात् वे सत्य, सज्जनों के स्वीकार करने योग्य हैं।

इस निर्वाण-दशा के प्राप्त करने का गौतम बुद्ध ने जो मार्ग खोज निकाला वह 'मध्यम प्रतिपदा' अथवा 'आर्य-अष्टांग-मार्ग' कहलाता है। गौतम बुद्ध ने अपने निज के अनुभव से यह देखा था कि जैसे भोग विलास से सत्य दूर रहता है, वैसे ही अत्यन्त देहकष्ट से भी दूर रहता है। वस्तुतः सत्य का मार्ग दोनों छोरों के बीच में है, और इस कारण वह 'मध्यम प्रतिपदा' अर्थात् 'बीच का मार्ग' कहलाता है। यही आर्य लोगों का मार्ग भी कहा जाता है।

ब्राह्मण धर्म के योग सूत्र आदि अनेक ग्रन्थों में जिसे पंच यम कहते हैं, और जैन-धर्म में जिसे पंचव्रत कहते हैं, उनसे बहुत कुछ मिलते जुलते बौद्ध-धर्म में पञ्चशील हैं। वे पञ्चशील निम्न प्रकार के हैं:—

(१) प्राणातिपात (अर्थात् हिंसा) न करना ।

(२) अदत्तादान (बिना दी हुई वस्तु) न लेना अर्थात् चोरी न करना।

(३) मृषावाद (झूठ) न बोलना ।

(४) मद्यपान न करना ।

(५) ब्रह्मचर्य पालन करना ।

जैसे अच्छे प्रकार छाये हुए मकान की छत में से वर्षा का पानी नहीं चू सकता, इसी प्रकार विवेक-सम्पन्न मन पर विषय-वासनाओं का कुछ असर नहीं पड़ सकता ।

गौतमबुद्ध का मुख्य उपदेश

हे भिक्षुओं, बुराई करने वाला इस लोक में पश्चात्ताप करता है और परलोक में भी पश्चात्ताप करता है, वह दोनों लोकों में पश्चात्ताप करता है। वह अपने गन्दे कामों को देखकर पश्चात्ताप करता है और अत्यन्त कष्ट पाता है।

सदाचारी पुरुष इस लोक में प्रसन्न रहता है और परलोक में भी सुखी रहता है, वह दोनों लोकों का आनन्द लेता है। जब वह अपने कर्मों की शुद्धता को देखता है तो बड़ा प्रसन्न और सुखी होता है।

सत्यधर्म का अनुयायी धर्म के बहुत से श्लोकों को तो कण्ठ नहीं करता, किन्तु वह काम, क्रोध और जड़ता को दूर कर सत्यज्ञान और मन की शांति प्राप्त कर लेता है। जो इस लोक तथा परलोक की परवाह नहीं करता, निश्चय ही वह भिक्षुपद का सच्चा भागी है।

हे भिक्षुओं, सच्ची लगन अमरत्व के पथ पर ले जाती है और प्रमाद को मृत्यु का मार्ग समझना चाहिये। वे जिन्हें सच्ची धुन लगी है, कभी नहीं मरते हैं और जो प्रमादी हैं, वे मरे हुओं के समान ही हैं।

जो अप्रमाद के मार्ग में अग्रसर हैं और जिन्होंने उसके तत्व की महिमा को समझ लिया है, वे सच्ची लगन में मस्त रहते हैं और प्राचीन आर्य लोगों के ज्ञानामृत का सुख लाभ करते हैं।

भड़कीली वस्तुओं के पीछे मत भागिये और न विषय-

भोग के पीछे ही अन्धे बनिये। जो अप्रमादी और चिन्ताशील है, उसे अपूर्व आनन्द मिलता है।

मन बहुत दूर भटकता रहता है, यह अकेला फिरता है, यह शरीर-रहित है और हृदय के अन्दर छिप जाता है। ऐसे मन को जो वश में करता है, वह शैतान राजा के जाल से मुक्त हो जाता है।

यदि मनुष्य के विचार अस्थिर हैं, यदि वह सत्यधर्म को नहीं समझता, यदि उसके मन की शान्ति भंग हो गई है, तो उसका ज्ञान कभी भी पूरा नहीं हो सकता।

सुमार्ग में लगा हुआ मन मनुष्य का जिस प्रकार भला करता है, उस प्रकार माता-पिता तथा दूसरे बन्धु वर्ग भी नहीं कर सकते।

अल्पबुद्धि के मूर्ख लोग स्वयं अपने बड़े कट्टर शत्रु हैं, क्योंकि वे कड़वे फल उत्पन्न करने वाले कर्मों को करते हैं।

जो ज्ञान सागर में डुबकी लगाता है, वह स्थिर-चित्त होकर सुखपूर्वक रहता है, आर्यों के बताये हुए धर्म उपदेशों पर चलने से मुनि को सदा परमानन्द मिलता है।

जैसे ठोस चट्टानों को प्रचण्ड पवन हिला नहीं सकता, वैसे ही निन्दा और स्तुति बुद्धिमान् को विचलित नहीं कर सकती।

वे (सत्पुरुष) विषय-भोग की तृप्ति की अनिच्छा रखते हुए चाहे कुछ भी हो जाय, अपने काम में बढ़े ही चले जाते हैं।

वे व्यर्थ का तर्क नहीं करते, चाहे सुख में हों, चाहे दुःख में, ज्ञानी पुरुष न तो कभी गर्व में ही आते हैं और न विवाद ही करते हैं।

संसार में ऐसे बहुत कम पुरुष हैं जो भवसागर पार कर अर्हत (पूर्णज्ञानी) पद को प्राप्त करते हैं, अधिकांश लोग इस संसार-सागर के किनारे इधर-उधर भटकते रहते हैं।

किन्तु वे, जिन्होंने धर्म के रहस्य को समझ लिया है, उसके अनुसार चलते हैं। वे यमराज के दुस्तर राज्य को भी पार कर जाते हैं।

देवता भी उसके साथ स्पर्धा करते हैं, जिसकी इन्द्रियां अच्छे प्रकार से सधे हुए घोड़े की तरह उसके वश में हैं, जो अभिमान से भरे परे हैं और जो वासनाओं से मुक्त है।

झोपड़ी में चाहे जंगल में, समुद्र में चाहे सूखी जमीन पर, जहाँ-जहाँ मुक्त पुरुष निवास करता है, वही स्थान आनन्द-दायक हो जाता हैं।

जंगल सुखद बन जाते हैं, जहाँ सांसारिक मनुष्यों को कुछ भी आमोद-प्रमोद नहीं मिलता वहाँ निर्विकारी पुरुष को आनन्द मिलता है, क्योंकि उसे बाह्य सुख की तलाश नहीं है।

दूसरे मनुष्यों जो जीतने की अपेक्षा अपने ऊपर विजय प्राप्त करना श्रेष्ठतर है। देवता, गन्धर्व, शैतान, यदि उन्हें ब्रह्मा की भी सहायता मिले, तो भी वे आत्मविजयी और संयमी पुरुष की विजय को पराजय में नहीं बदल सकते।

यदि कोई पुरुष जंगल में निवास कर एक सौ वर्ष तक अग्नि की पूजा करता है और यदि वह केवल एक क्षण के लिये भी किसी स्थितप्रज्ञ महात्मा को अभिवादन करता है, तो उसका वह अभिवादन उस सौ वर्ष की पूजा की अपेक्षा श्रेष्ठतर है।

जो वृद्ध पुरुषों को सदा नमस्कार करता और उनका निरन्तर आदर करता है, उसके चार पदार्थों, अर्थात् आयु, विद्या, सुख और बल की वृद्धि होती है।

यदि मनुष्य किसी निर्दोष, सदाचारी और पवित्र पुरुष को पीड़ित करता है. तो उसका वह बुरा कर्म लौट कर उसी को पीड़ित करता है, जैसे प्रचण्ड पवन की तरफ धूल फेंकने से धूल फेंकने वाले के ऊपर पड़ती है।

कुछ आदमी आवागमन के चक्कर में रहते हैं, पापी नरक को जाते हैं, धर्मात्मा स्वर्ग को जाते हैं, जो सब सांसारिक इच्छाओं से मुक्त हैं, वे निर्वाणपद को प्राप्त करते हैं।

जो स्वयं अपना स्वामी है, उसका दूसरा कौन स्वामी बन सकता है ? स्वयं को भली प्रकार जीत लेने से मनुष्य को उस दुर्लभ स्वामी (परमात्मा) के दर्शन हो सकते हैं।

बुरे तथा हानिकारक कर्म करना बड़ा सहज है। जो शुभ-कर्म लाभदायक हैं, उनका करना कठिन है।

मनुष्य स्वयं ही बुराई के बीज बोता है और स्वयं ही उसका फल भोगता है, मनुष्य स्वयं ही बुराई का त्याग करने वाला है

और स्वयं ही अपनी शुद्धि करने वाला है। साधुता और दुष्टता मनुष्य के अपने हाथ में है, कोई दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता।

जो पहले विवेक-शून्य रहा हो और बाद में विचारशील हो जाये तो वह मेघों से मुक्त चांद की तरह जगत को प्रकाशित करता है।

मनुष्य-जन्म पाना दुर्लभ है। मनुष्य का जीवन दुर्लभ है। सत्यधर्म का सुनना दुर्लभ है, बुद्ध (बोध-ज्ञान) का जन्म तथा बुद्धत्व-पद की प्राप्ति दुर्लभ है।

न निन्दा करना, न मारना, धर्म के अनुसार जितेन्द्रिय रहना, खाने में मिताहारी होना, एकान्त में बैठना एवं सोना और उच्च विचारों का चिन्तन करना—यह बुद्धों का उपदेश है।

सोने की मुद्राओं की वर्षा भी हो जाय तो भी तृष्णा शान्त नहीं होती। जो जानता है कि तृष्णा का आनन्द क्षणिक है और दुःखदायी है वही बुद्धिमान् है, उसे स्वर्गीय सुखों में भी कोई सन्तोष नहीं होता। जो शिष्य पूर्ण जागृत अवस्था में है, वह सब तृष्णाओं के नाश करने में आनन्द मानता है।

जिसमें सद्गुण और बुद्धि है, जो न्यायशील है, सत्यवक्ता है, और जो अपना कर्त्तव्य पालन करता है, ऐसा पुरुष विश्व का प्यारा होगा।

मनुष्य क्रोध को प्रेम से वश में करे, बुराई को भलाई से

जीते, लोभी को उदारता से वश में करे और झूठे को सचाई से स्वाधीन करे।

सत्य बोलिये, क्रोध को न आने दीजिये, यदि कोई वस्तु के लिये याचना करे तो उसे दे दीजिये, इन्हीं तीन सीढ़ियों से आपको देवताओं का धाम प्राप्त हो सकता है।

वे धर्मात्मा पुरुष, जो दूसरों को हानि नहीं पहुँचाते हैं और जो सदा अपने शरीर को वश में रखते हैं, अविनाशी निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं, जहां पहुँचने से सब प्रकार के शोक-मोह की निवृत्ति हो जाती है।

जो सदा जागृत रहते हैं, जो दिन-रात अध्ययन में लगे रहते हैं, और जो निर्वाण के लिए यत्न करते हैं, उनकी विषय-वासनाएं समाप्त हो जायंगी।

शारीरिक क्रोध से सावधान रहो, और अपने शरीर को वश में रखो। शरीर के दोषों का त्याग करो और अपने शरीर से सद्गुणी जीवन व्यतीत करो।

मानसिक क्रोध से सावधान रहो, अपने को वश में रखो, मानसिक दोषों को दूर करो, और मन से शुद्ध जीवन व्यतीत करो।

जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार अपने मन को वश में रखता है, वही बड़ा जितेन्द्रिय, संयमी और यती पुरुष है।

जैसे सुनार सोने-चांदी के मैल को समय-समय पर थोड़ा-थोड़ा करके दूर करता रहा है, बुद्धिमान् को इसी

प्रकार अपने हृदय की मलीनता को धीरे-धीरे समय-समय पर थोड़ा-थोड़ा करके दूर करते रहना चाहिये।

लोहे से जंग उत्पन्न होता है, जब वह लोहे पर चढ़ता है, तब लोहे को खा जाता है, उसी प्रकार समय-मार्ग का उल्लंघन करने वाले का अपना काम ही उसकी दुर्गति करता है।

अभ्यास (नित्य प्रति साधना) न करना यह साधना का कलंक है, मकान का कलंक उसकी मरम्मत न करना है, शरीर का कलंक आलस्य है और चौकीदार का कलंक असावधानी है।

कषाय वस्त्र पहिनने वालों में भी बहुत से पापी और असंयमी होते हैं, इस प्रकार के पापी पुरुष अपने पाप-कर्म से नरक में जाते हैं।

शरीर का संयम हितकारी है, वाणी का संयम मंगलकारी है, विचारों का संयम सुखकारी है, सब वस्तुओं से संयम कल्याण कारी है। जो भिक्षु सब वस्तुओं में संयम रखता है, वह सब प्रकार के दुःख से छूट जाता है।

भिक्षु उसे कहते हैं जो अपने हाथ-पांव और वाणी को वश में रखता है, जो भली प्रकार संयमी है, जो स्थिरचित्त है और जो एकान्तसेवी तथा सन्तोषी है।

जो भिक्षु अपने मुख (वाणी) को वश में रखता है, जो बुद्धि-मत्ता तथा शान्ति से बोलता है, जो धर्म और उसके अर्थ की शिक्षा देता है, उसके वचन मीठे होते हैं।

जो धर्म के अनुसार चलता है, धर्म में आनन्द मानता है, धर्म का मनन करता है, धर्म के अनुसार चलता है, वह भिक्षु धर्म से कभी नहीं हटेगा।

गोरक्षा पर भगवान् बुद्ध के उपदेश

"यथा माता पिता भाता, अञ्ञे वा पिच आतका।
गावोनो परम मित्ता, यासु जायन्ति ओसधा ॥
अन्नदा बलदा चेता, वण्णदा सुखदा तथा।
एत वत्थ वसं अत्वा नास्सु गावो हनिसुते ॥"

(ब्राह्मण धम्मिक सुत्त १३-१४)

जिस प्रकार पिता, माता, भाई और अन्य जातिबन्धु हैं, उसी प्रकार गायें हम सबों की परम मित्र हैं जिनसे औषधियां उत्पन्न होती हैं। गाय अन्न देने वाली है, बल देने वाली है, ओज देने वाली है, वर्ण देने वाली है तथा सुख देने वाली है, इसे हितकारी समझ कर आप गौ को कष्ट न दें—उसकी रक्षा करें।

❀

४७

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य

विक्रम सम्वत् से लगभग २७५ वर्ष पूर्व इस महा-शक्तिशाली हिन्दू सम्राट् का राज्य सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैला हुआ था। भारतवर्ष के बाहर ईरान (अर्यान), लङ्का, ब्रह्मदेश, जावा, सुमात्रा प्रभृति देशों तक इनका प्रभुत्व था। चन्द्रगुप्तने इस पवित्र आर्य-भूमि पर आक्रमण करने वाले यवन राजा सेल्यूकस को युद्ध में ऐसा परास्त किया कि उसे अपने साम्राज्य के चार बड़े-बड़े प्रान्तों सहित अपनी पुत्री हेलेना को भेंट-स्वरूप देकर सन्धि करनी पड़ी। पराजित सेल्यूकस ने मेगस्थनीज नामक राज दूत चन्द्रगुप्त की राजसभा में भेजा। बालकों देखो! ३२०० वर्ष पूर्व के भारतवर्ष तथा आपके पूर्वजों के विषय में यह विदेशी राजदूत क्या लिखता है:—

"यहाँ के लोगों को खाद्य-सामग्री पर्याप्त मिलती है, इससे इनका डीलडौल साधारण से अधिक होता है और ये अपनी गर्वीली चाल के लिए प्रसिद्ध हैं।"

"भारततर्ष में अकाल कभी नहीं पड़ा और न कभी खाने की वस्तुओं की महंगी पड़ी।"

"समस्त भारतवासी स्वतन्त्र हैं, उनमें एक भी दास नहीं।

भारतीय लोग विदेशियों तक को दास नहीं बनाते, अपने देश-वासियों की तो बात ही क्या ?"

"भारतीय लोग चालचलन में सीधे और मितव्ययी होने के कारण बड़े सुख से रहते हैं। सचाई और सदाचार दोनों का वे समान रूप से आदर करते हैं।" . . . आदि।

इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त विशाल साम्राज्य का अधिपति था। उसकी सेना में २० लाख पैदल, १० लाख अश्वारोही १ लाख हाथी तथा १ लाख रथ थे। इतना विशाल साम्राज्य होते हुए भी साम्राज्य को ४ भागों बांट कर उसने उत्तम कोटि की शासन-व्यवस्था की थी, जिससे प्रजा पूर्ण समृद्धिशाली तथा सुखी थी।

चाणक्य (कौटिल्य)

'न त्वेवार्यस्य दासभावः' अर्थात् आर्य दास या आधीन नहीं बनाया जा सकता ! चौवीस शताब्दी पूर्व निद्रित हिन्दू-जाति की निद्रा भंग करने के लिये राजनैतिक उत्थान तथा विजय के इस मन्त्र को लेकर आने वाला महापुरुष कौन था ? बालकों ! वह विष्णुगुप्त कौटिल्य या चाणक्य नामक महामेधावी ब्राह्मण था, जो सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का मन्त्री था। इन्हीं की राजनैतिक बुद्धि, कूटनीति, दृढ़ता, तथा अमोघ संकल्पशक्ति पर चद्रगुप्त मौर्य का विशाल साम्राज्य निर्मित तथा उन्नत हुआ था। इन्होंने कौटिल्य अर्थशास्त्र नामक ग्रंथ की रचना की। यह अर्थशास्त्र

प्राचीन भारतीय राजनीति का सबसे महान् ग्रन्थ है। चाणक्य नीतिशास्त्र भी इनकी महत्वपूर्ण कृति है। इनके पश्चात् भारत के हिंदू राजा चाणक्य नीति का व्यवहार में लाए होते तो उन्हें विदेशी आक्रांताओं के आगे झुकने की आवश्यकता न पड़ती।

चाणक्य नीति

येषां न विद्या न तपो न दानं,
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता,
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

जिन लोगों में न विद्या है, न तप है, न दान है, न शील है, न गुण है और न धर्म है—वे संसार में पृथ्वी का भार रूप होकर मनुष्य रूप से मृग (पशु) फिर रहे हैं।

"शठे शाठ्यं समाचरेत्।"

दुष्ट के प्रति दुष्टता करो।

"कृते प्रति कृतिं कुर्यात् हिंसते प्रतिहिंसनम्।

जो जैसा व्यवहार करे उससे वैसा ही व्यवहार करो। हिंसा करने वाले के साथ हिंसा करो।

"नीचेषु विश्वासो न कर्तव्यः।"

नीच का विश्वास नहीं करना चाहिये।

❀

४८

सम्राट् अशोक

भारतवर्ष में इतने अधिक सम्राट् हुए हैं जितने पृथ्वी के किसी देश में नहीं हुए। अशोक मानव-इतिहास के श्रेष्ठतम तथा महान् चक्रवर्ती सम्राट् हुए। ये वि० संवत् से २१५ वर्ष पूर्व राजगद्दी पर बैठे थे। इनके पिता का नाम सम्राट् विन्दुसार तथा दादा का चन्द्रगुप्त मौर्य था। इनका साम्राज्य सारे भारतवर्ष तथा पश्चिम में मैसोपोटामिया देश तक फैला हुआ था। ये स्वच्छाचारी राजा नहीं थे। इनके राज्यकाल में प्रजा अत्यन्त सुखी थी। इनके शासन का आधार पशुबल पर नहीं, प्रजा के स्नेह और कृतज्ञता पर था। इनकी राज्य-व्यवस्था शासनके नियमों पर नहीं, धर्म के नियमों पर टिकी हुई थी। बालकों देखो, वे नियम क्या थे।

"प्रजा मुझ पर भरोसा करे और समझे कि राजा हमारे लिये वैसे ही है, जैसे पिता। वे हम पर वैसा ही प्रेम रखते हैं जैसा अपने ऊपर। हम लोग राजा के वैसे ही हैं, जैसे उनके लड़के। धर्म के अनुसार पालन करना, धर्म के अनुसार काम करना-धर्म के अनुसार सुख देना और धर्म के अनुसार रक्षा करना यही शासन का सिद्धान्त है। मेरे रज्जुक नामक कर्मचारी लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त हैं। वे लोगों के हित और सुख का ध्यान रखें और लोगों पर अनुग्रह करें। वे लोगों के सुखदुख का कारण जानने की चेष्टा करें और लोगों को ऐसा उपदेश दें

कि जिससे वे ऐहिक और पारलौकिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करें। मैं लोगों के हित और सुख को लक्ष्य में रखकर यह देखता हूँ कि जाति के लोग, दूर के लोग तथा पास के लोग किस प्रकार से सुखी रह सकते हैं। इसी उद्देश्य के अनुसार मैं कार्य करता हूँ।"

"ऐसा कोई दान नहीं है जैसा धर्म का दान है। ऐसी कोई मित्रता नहीं है, जैसी धर्म की मित्रता है। धर्म यह है कि माता-पिता की सेवा की जाय। मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण, ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की हिंसा न की जाय। विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए। सत्य बोलना चाहिए। अपने जाति भाइयों के प्रति उचित बर्ताव करना चाहिए। दया, दान, सत्य, शौच, पवित्रता, मृदुता और साधुता लोगों में बढ़े। थोड़ा व्यय करना और संचय करना अच्छा है। यही प्राचीन धर्म की रीति है।" आदि"'

अशोक के द्वारा स्थापित किए हुए स्तम्भ जो उत्तर भारत में कई स्थानों पर हैं, उनकी उत्तम शासन पद्धति के साक्षी हैं। अशोक का महान् कार्य तो उनका आर्य-धर्म प्रचार के लिए हजारों प्रचारकों को यहाँ तक कि अपने पुत्र और पुत्री को भी देश विदेशों में भेजना था। जिसके परिणामरूप चीन, जापान, तिब्बत, लंका, बर्मा, श्याम, जावा, सुमात्रा, बालि प्रभृति देशों के निवासियों ने आर्य धर्म के सिद्धान्तों (महात्मा बुद्ध के अमृत-मय उपदेशों) को आदरपूर्वक ग्रहण करके आर्य-धर्म की बौद्ध

शाखा को अपनाया, जिससे आज भी—संसार में आर्य धर्मी अस्सी कोटि की संख्या में (तीस कोटि भारत में हिन्दू नाम से तथा ४० कोटि आर्य-धर्म की बौद्ध शाखा के अनुयायी उपर्युक्त अन्य देशों में) दिखाई देते हैं, जिनके पुनर्गठन से संसार का महान् कल्याण हो सकता है।

❀

४६

मृत्यु का राज्य

कल लड़कों ने गुरुजी से दो महान् आर्य सम्राटों—चन्द्रगुप्त और अशोक की कथायें सुनी थीं। आज उन्होंने फिर धर्म-चर्चा प्रारम्भ की।

रमाकान्त—गुरुजी, आपने परसों बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त बतलाये, उनमें 'वस्तु मात्र क्षणिक और दुःखमय है,' यह सिद्धान्त सब का आधार है न ?

गुरुजी—हाँ, गौतम बुद्ध के जीवन-चरित्र का हाल जो मैंने तुमसे कहा था, उसे देखते हुए तुम्हारा कथन उचित प्रतीत होता है। वे राजमहलों में से बाहर फिरने निकले थे, रास्ते में वह बूढ़ा, वह जलोदर रोगी और मुर्दा, और उसके पीछे होता हुआ रुदन तथा हाहाकार, इनको उन्होंने देखा था। तभी से उनके दयालु हृदय पर 'जीवन क्षणिक और दुःखरूप है' इस बात का प्रभाव पड़ा था और इसका प्रतिकार ढूंढ निकालने के लिये ही वे बाहर निकल पड़े थे।

विचारचन्द्र—किन्तु गुरुजी, उन्होंने प्रतिकार तो ढूंढ नहीं निकाला !

गुरुजी—ढूँढ तो निकाला—आर्य-मार्ग की ही तो गवेषणा की, किन्तु मैं तुम्हारे कहने का भावार्थ समझता हूँ। तुम्हारा कथन इस प्रकार है कि यदि मृत्यु मिटा दी होती और रोग शान्त हो जाते तो 'सचमुच भला किया' यह कहा जाता। क्यों यह बात ठीक है न ?

विचारचन्द्र--(कुछ हँस कर) हाँ महाराज !

गुरुजी—तो सुनो ! गौतमबुद्ध और किसा-गौतमी नाम की स्त्री का जो आपस में संवाद हुआ उसे मैं कहता हूँ । किसा-गौतमी नाम की एक युवती थी। उसके एक सुन्दर बालक था। वह खूब हँसता फिरता और खेलता था। इतने में वह एक रात्रि का अचानक बीमार हुआ और सुबह ही बेचारा मृत्यु के मुख का ग्रास बन गया। माता इस घटना से पागल-सी हो गई और कोई उसे औषधि देकर फिर जीवित करे, इस आशा से बालक के शव को हाथ में लेकर वह शहर-शहर भटकने लगी। रास्ते में एक बौद्ध भिक्षु मिला, उसने बड़े विनय से उससे कहा—"भगवन् ! मेरे बालक को कुछ औषधि दो और जीवित करो।" भिक्षु ने कहा--"बहिन ! इसका औषधि मेरे पास नहीं, पर मेरे एक गुरु गौतम बुद्ध हैं उनके पास जा, तो वे कुछ बतलायेंगे"। किसा-गौमती बड़ी ही आशा के उल्लास में उसी तरह से उस बालक को लेकर गौतम बुद्ध के पास गई और

कहा—"भगवन्! आप समर्थ हैं, मेरे बालक को कुछ औषधि देकर जीवित कीजिये।" गौतम बुद्ध ने कहा—'बहिन! इस बालक को यहाँ सुला दे और मैं कहूं वैसी कुछ राई ले आ, तो तेरा बालक मैं जीवित कर दूंगा।" यह उत्तर सुन किसा-गौतमी प्रसन्न हुई और पहले से भी अधिक आशा से ज्यों ही वह राई लेने दौड़ना चाहती थी, त्यों ही भगवान् बुद्ध ने उसे क्षण भर खड़ा रख कहा—"बहिन, ऐसे मंगल-कार्य्य के लिये शुभस्थान से राई लाना चाहिये, इसलिए ऐसे घर से राई लाओ जिस घर में कोई सगा-प्यारा कभी न मरा हो"। वह युवती पुत्र के उस शव का विरह भी सहन न कर सकती थी, और मानो अभी पुत्र जीवित ही है, इस प्रकार उससे आलिंगन करती, उसे हाथ में लेकर गांव में राई लेने—बुद्ध भगवान् ने जैसा कहा था—वैसी राई लेने गई। एक घर में गई, वहाँ घर वालों ने कहा——"बहिन, राई तो है, चाहे जितनी लो, किन्तु तू कहती है वैसी नहीं, मेरे घर में महीना भर हुआ जब एक जवान पुत्र मर गया है, इस कारण लाचार हूं।" किसा-गौतमी दूसरे घर गई, तीसरे घर गई, इस प्रकार सैकड़ों घर भटकी। किसी ठिकाने बाप, तो किसी जगह मां, किसी जगह भाई, तो किसी ठिकाने बहिन, कहीं पति तो कहीं पत्नी, कहीं बालक तो कहीं लड़की, कहीं मित्र तो कहीं नौकर, इस प्रकार जहाँ जहाँ खोजती थी वहाँ वहाँ कोई न कोई मरा हुआ बतलाया ही गया। किसा-गौतमी ने गौतम बुद्ध के पास आकर

सब कथा कह सुनाई। गौतम बुद्ध ने इस अनुभव का यह मर्मरूप सिद्धान्त किसा-गौतमी को समझाया कि स्नेही-सम्बन्धी का मरण-रहित कोई घर नहीं, जो जन्म लेगा वह अवश्य मरेगा, और पदार्थ मात्र नाशवान् है—किसा-गौतमी संसार छोड़ भिक्षुणी हो गई।

विचारचन्द्र—तो गुरूजी, इसका अर्थ तो यह है कि मृत्यु की कोई चिकित्सा ही नहीं।

गुरुजी—है ही नहीं। जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही जानना यथार्थ ज्ञान है। चिकित्सा चाहे हो सके या न हो सके, किन्तु वैद्य को पहले तो जो वस्तु-स्थिति हो उसका निर्णय करना चाहिये। गौतम बुद्ध ने इस बात का निर्णय किया। तुम कहोगे कि मृत्यु की चिकित्सा नहीं, इस बात को कौन नहीं जानता? सभी जानते हैं, पर जान कर जैसा व्यवहार करना चाहिये, वैसा व्यवहार करने पर ही ठीक-ठीक जाना जाता है। गौतम बुद्ध ने यह बात एक निश्चित सिद्धान्तरूप से जानने और उसके अनुसार व्यवहार करने का उपदेश किया था, किन्तु वस्तुतः गौतम ने इतना ही नहीं किया। उन्होंने मृत्यु की औषधि भी खोज निकाली है, और वह यह है कि संसार में तृष्णा—विषयतृष्णा से ही रोग बढ़ता है और मृत्यु होती है, 'मैं जीऊं', किसी को हानि पहुँचाकर भी जीऊं और सुख भोगूं' ऐसी हमारी मूर्खता-भारी तृष्णा है जो विषयरूपी पानी

पीने से बढ़ती है। इसलिये उसे न पीकर ज्ञानरूपी अमृत से वह तृष्णा शान्त करनी चाहिये, जिससे संसारचक्र का आवागमन छूट कर परम शान्ति और सुख मिले। उस दशा को निर्वाण कहो, वा मोक्ष कहो, एक ही बात है।

❀

५०
अविरोध

लड़कों ने जैनधर्म और बौद्धधर्म में ब्राह्मण-धर्म से मिलती जुलती अनेक बातें देखी। सबके मन में यही हुआ कि तीन एक से ही धर्म हैं। गुरुजी ने भी यह बात बहुत बार कही थी। तथापि इस सम्बन्ध में गुरुजी से प्रश्न करने से कुछ विशेष बातें मालूम होंगी, इस लक्ष्य से एक विद्यार्थी ने इस विषय की चर्चा छेड़ी।

सुमन्त—गुरुजी, आपने कहा था कि जैन-धर्म के अनुसार जगत् का कोई कर्ता (ईश्वर) नहीं, और सब कुछ कर्मानुसार होता रहता है, किन्तु ऐसा सिद्धांत तो आपने वेद-धर्म के षट्-दर्शनों में भी बतलाया था।

गुरुजी—ठीक।

चन्द्रमौली—और, महाराज, तप और वैराग्य का उपदेश भी उस धर्म में है।

गुरुजी—है ही।

कान्तिलाल—स्याद्वाद जैसा भी कुछ है न !

गुरुजी—यह भी है।

विचारचन्द्र—अहिंसा ?

गुरुजी—इस प्रसंग में कुछ विस्तार पूर्वक उत्तर देना उचित है। मूल वेद-धर्म में कितने ही यज्ञों में पशुहिंसा होती थी और कितने ही सादे दूध-घी के यज्ञ होते थे। जो पशु हिंसा होती थी वह भी बहुत स्थानों से धीरे-धीरे जाती रही और पशु के बदले व्रीहि (एक प्रकार के अन्न) का बलितान दिया जाने लगा, फिर आटे का पशु बनाकर उसे होम करने का रिवाज शुरू हो गया। ज्ञानी पुरुषों ने पशुहिंसा का कुछ विलक्षण अर्थ कर यज्ञ में से पशुहिंसा बिल्कुल ही निकाल डाली। उनके विचारानुसार हमारे हृदय का अहंकार ही पशुरूप है और उसे ईश्वर को समर्पण कर उसके यज्ञ में उसका बलिदान कर देना चाहिये। भागवत धर्म ने, जो वेद-धर्म को शाखा है, हिंसात्मक यज्ञ का बहुत ही निषेध किया है। श्रीमद्भगवत में नारद मुनि राजा प्रचीनवर्हि से कहते हैं—'हे प्रजापालक राजा, यज्ञ में तुमने निर्दयी हो हजारों पशुओं को मारा है, वे तुम्हारी क्रूरता याद करते हुए परलोक में तुम्हारी बाट देख रहे हैं। वे कुपित हैं कि ज्यों ही तुम यहां से परलोक में जाओगे त्यों ही तुम्हें लोहे के शास्त्रों से काटने को तैयार हो जायंगे।' इसमें से दो बातें सिद्ध होती हैं। कोई कहे कि वेद-धर्म में पशुहिंसा

होती ही न थी तो यह कहना असत्य है, और उसके साथ यह भी स्पष्ट है कि वेद-धर्म की ही शाखाओं में पशुहिंसा बन्द करने का उपदेश बहुत प्रकार से हुआ है। इस बात में कोई आश्चर्य भी नहीं। हिन्दू-धर्म के तीनों सम्प्रदाय—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध एक ही जाति में एक ही प्रकार के जीवन में से उत्पन्न हुए हैं, और एक ही महावृक्ष की शाखायें हैं।

इस कारण अमुक सिद्धान्त केवल एक ही धर्म का हो यह संभव नही, किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि जैनधर्म का इस देश पर कुछ उपकार ही नहीं। सब सिद्धान्तों में अहिंसा के सिद्धान्त को परम आदरणीय बनाने का गौरव जैन लोगों को ही प्राप्त है। यों तो "अहिंसा परमो धर्मः' का सिद्धान्त हिन्दू धर्म के सभी पुराणों और नये सम्प्रदायों, यथा ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि को समान रूप से मान्य है, किन्तु जैन शास्त्रकारों ने विशेष प्रकार से अहिंसा पर विचार करके निर्णय किया है। जिन-जिन व्यवसायों और कामों में ज्ञात और अज्ञात दशा में, जो अनेक प्रकार से सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा होती हो, उस पर भी अति सूक्ष्म विचार करते हुए मनुष्य को दूर हटाने का उपदेश उन्होंने दिया है, किन्तु गृहस्थ के लिये तदनुकुल चलना कठिन है, इसका पूरा पालन तो साधु-यती लोग ही कर सकते हैं।

दूसरी ओर हिन्दुओं की ब्राह्मणादि शाखाओं के धर्म-ग्रन्थों में देश-काल, वर्णाश्रम, धर्माधर्म, न्याय-नीति की सम्पूर्ण

परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए दूसरी प्रकार से अहिंसादि के गूढ़ तत्वों पर सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार किया है। साथ ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी के लिये जैन-धर्म के सदृश सब प्रकार से सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहिंसाव्रत पालन करने की इन शास्त्रों ने भी आज्ञा दी है। इस प्रकार ब्राह्मण शाखा के ग्रन्थों में न्यायनीति को ही प्रधानता देकर निष्काम अर्थात् आसक्तिरहित बुद्धि से कर्तव्य कर्म करने को मुख्य माना है। अतएव गृहस्थाश्रमी के लिए न्याय और धर्म-पालन के निमित्त अहिंसा-विरोधी युद्धादि कर्मों को भी आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने बुरा नहीं माना है, क्योंकि आततायियों-दुष्टों-को दण्ड न दिया जाय, अर्थात् उन्हें न मारा जाय तो धर्म का नाश हो जायगा और चोरी, हत्या, हिंसा की वृद्धि होने लग जायगी। वास्तव में सर्वसाधारण के लिए ज्ञानियों की सहायता बिना कर्म के गूढ़ तत्वों का सूक्ष्म मर्म समझना कठिन है। इसलिए गीता के श्लोक विचारार्थ नीचे दिये जाते हैं :—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

(*गीता अ० ४, श्लोक १६*)

अर्थ—वस्तुतः कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसका विचार करने में विद्वान् भी घबरा जाते हैं, इसलिए कर्म क्या

है, यह मैं तुम को बताता हूं। इसके जानने से तुम दुखों से छुटकारा पा जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोधव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

(*गीता अ० ४, श्लो० १७*)

अर्थ—कर्म्म भी जानना चाहिये, विकर्म्म अर्थात् शास्त्र-विरुद्ध कर्म किसे कहते हैं यह भी जानना चाहिये, और अकर्म अर्थात् कर्म से मुक्त कैसे रहा जाता है यह भी जानना चाहिये। कर्म की गति अत्यन्त गहन—गम्भीर है।

रामनाथ—गुरुजी, आपने कहा था कि गौतमबुद्ध एक महान् अवताररूप पुरुष हुए थे, और तत्पश्चात् आपने उनके जीवन और उपदेश का जो वर्णन किया उसे देखते हुए भी ऐसा ही ज्ञात होता है। तब लोक में क्यों कहा जाता है कि बुद्धावतार तो भगवान् ने असुरों को भ्रम में डालने के लिये लिया था।

गुरुजी—भगवान् ऐसा कभी न करेंगे। भगवान् धर्म की रक्षा के लिए अवतार लेते हैं, किसी को भ्रम में डालने के लिये नहीं। उनके उपदेश में कितनी ही भ्रांतियां उत्पन्न हुई हैं यह बात ठीक है, जैसे वेद तुच्छ है, ईश्वर नहीं, आत्मा नहीं, सब शून्य है इत्यादि। जो इन भ्रांतियों में पड़े उन्हें

ब्राह्मण शास्त्रकारों ने असुर कह कर पुकारा, और उन्हें भ्रम में डालने के लिये भगवान् ने बुद्धावतार लिया, यह मान लिया। किन्तु यह सब बातें गौतम बुद्ध के सच्चे उपदेश को न समझने वालों पर लागू होती हैं। बौद्धधर्म तो एक प्रकार से वेदों से निकाले हुए षट्दर्शनों में से कपिलमुनिकृत सांख्यदर्शन की शाखा है। सच तो यह है कि गौतम बुद्ध ने वेद की निन्दा नहीं की, प्रत्युत यह बतलाया है कि ब्राह्मणों को क्या जानना चाहिये और कैसा होना चाहिये। किन्तु यदि इतनी बात से वेद की निंदा होती हो तो—

कहा भयो तप तीरथ कीन्हें।
माला गहि हरि नामहि लीन्हें॥
तुलसी तिलक धरे का होवे।
सुरसरि पान करे का होवे॥
कहा भयो निगमागम जांचे।
राग रंग के तत्वहिं जांचे॥
कहा भयो षड्दर्शन जाने।
वरण भेद उपभेदहिं माने॥

ऐसे पद किस हिन्दी-साहित्य में नहीं हैं? स्वयं कृष्ण भगवान् ने भी गीता में वेद के अर्थ पर सरपच्ची करने वालों की क्या

निन्दा नहीं की ? इसके अतिरिक्त 'ईश्वर नहीं' यह गौतम बुद्ध ने कभी नहीं कहा, किन्तु यह कहा कि ईश्वर के अन्वेषण में लगे हुए लोगों को जो कर्तव्य कर्म करना उचित हैं, वह वे नहीं करते। इस कारण ही ईश्वर के विषय की चर्चा उन्होंने निरर्थक बतलाई है। उनका कहना है कि मनुष्य को बाण लगा हो तो वह शस्त्र-वैद्य के पास जाकर उसे निकलवाता है अथवा पहले यह विचार करने बैठता है कि अच्छा, इस बाण का मारने वाला कौन है, यह बाण किस चीज का बना है इत्यादि ? इस प्रकार जगत् नित्य है वा अनित्य, इसका कर्त्ता है या नहीं, है तो कैसा है, इत्यादि प्रश्नों पर धार्मिक जीवन का आधार नहीं। अब विचार करने पर हमें यह प्रश्न निरर्थक नहीं मालूम होते, किन्तु जब लोग अपने सच्चे कर्तव्य को भूल जाते हैं और ऐसे प्रश्नों के वाद-विवाद में पड़े रहते हैं, तब गौतम बुद्ध ने जैसा कहा था वैसा कोई कहे तो क्या बुराई है ? यह तो सभी मानेंगे कि तारों की खोज में भटकते हुए पैरों तले कुंआ आ जाता है, इसे भूल जाना तो बहुत ही बुरा है। इसके अनुसार जैन-धर्म में भी ईश्वर के न मानने का ठीक तात्पर्य कर्म की महिमा बताने की है। इसी प्रकार 'सब शून्य है', यह जो बुद्ध भगवान् से कहा हुआ माना जाता है, उसका अर्थ पाप-पुण्य की उत्तरदायिता के दूर करने का नहीं, किन्तु संसार के मोह को नष्ट करने का है।

हिन्दू-धर्म में स्वार्थी और मूर्खों के कारण परस्पर साम्प्रदायिक

द्वेषभाव हो जाने से जैसे शिव-विष्णु की निन्दा के प्रकरण आ घुसे हैं, इसी तरह बौद्ध, जैन और ब्राह्मण-धर्मों में परस्पर निन्दा की बातें आ गई हैं। उचित दृष्टि से देखते हुए ये बातें हमारे धर्मों के सुन्दर पुष्प-फल नहीं, किन्तु उस उद्यान के बिगाड़ने वाले कांटे हैं। इसलिये इन बातों की सर्वथा उपेक्षा करनी चाहिये, क्योंकि अज्ञान से धर्म के मर्म को न समझने के कारण ही साम्प्रदायिक द्वेष के फैलने से हिन्दू-जाति इस समय सब प्रकार से क्षीण हो रही है। यदि हम अपने धर्म-आर्यधर्म-के सच्चे तत्वों को समझने लग जायें तो फिर से प्राचीन समय की भांति यह हिन्दू-जाति संसार में शिरोमणि बन सकती है। किन्तु ऐसी योग्यता प्राप्त करने के लिए उन बुरी रूढ़ियों की दासता, जिनका धर्म और न्याय से कोई सम्बन्ध नहीं है, त्याग कर हिन्दू-मात्र में सब प्रकार से ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि करते हुए, परस्पर का प्रेम बढ़ाते हुए, हिन्दू-जातीय संगठन करने की आवश्यकता है, और मनुष्यमात्र में भी इस पवित्र हिन्दू धर्म का ज्ञान फैलाने की आवश्यकता है। प्रत्येक हिन्दू सन्तान का धर्म-प्रचार करने का यह पवित्र कर्त्तव्य है, क्योंकि इस ज्ञानरूपी अमृत का दान करने पर मनुष्यमात्र की भलाई हो सकती है, किन्तु यह काम तभी हो सतका है जब हम हिन्दू लोग अपने आपको इसके योग्य बना लें। देश में जितना शीघ्र विद्या और धर्म का प्रचार होगा उतना ही शीघ्र हम लोग योग्य बन सकेंगे।

इस पुस्तक के पढ़ने से, जिसमें साधारण बुद्धि के मनुष्यों और बालकों के समझने योग्य ही धर्म के स्थूल-स्थूल तत्व समझाये गये हैं, पता लगता है कि एक हमारा ही आर्य-धर्म ऐसा धर्म है जो सर्वथा विज्ञान के सिद्धान्तों पर निर्भर है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने धर्म की सच्चाई को अनुभव और तर्क की कसौटी से जांचा है। जहाँ तक मनुष्य की बुद्धि की पहुँच हो सकती है वहाँ तक हमारे अवतारों और महापुरुषों ने आध्यात्मिक तत्वों का अन्वेषण किया है।

वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता और धर्म्मपद आदि ग्रन्थों के पढ़ने से यही पता लगता है कि हमारे महापुरुषों ने अध्यात्म सत्य को किस चरम सीमा तक पहुंचा दिया है।

अज्ञानवश लोगों ने सामाजिक नियमों को, जो देशकाल के अनुसार बदलते रहते हैं, या किसी एक मनुष्य के कथन को ही, धर्म मान कर अलग-अलग बाड़े (घेरे) बना लिये हैं, किन्तु वह धर्म नहीं हैं। जैसे ईसाई और इस्लाम आदि धर्म दो सहस्र वर्षों के भीतर के ही बने हुए हैं। ईसा ने बाईबल में जो कुछ उपदेश दिये वह ईसाई मत के नाम से तथा मुहम्मद ने जो कुरान में कहा वह इस्लाम के नाम से प्रसिद्ध हुए। किन्तु ये मत एक मनुष्य-विशेष के कथनमात्र हैं। यदि इस्लाम में से हजरत मुहम्मद को निकाल दें तथा ईसाई मत के लिये यह कह दें कि ईसामसीह नाम का कोई व्यक्ति संसार में हुआ ही नहीं तो उन

मतों की इमारत (भवन) लड़खड़ा कर गिर पड़ेगी। इसके विपरीत यदि कोई यह कह दे कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम या भगवान् कृष्ण नाम का कोई महापुरुष संसार में हुआ ही नहीं तो हिन्दू धर्म का बाल भी बाँका नहीं होता। क्योंकि हिन्दू-धर्म किसी महापुरुष की जीवनी, किसी अवतार के चमत्कार या किसी पैगम्बर के उपदेशों पर नहीं खड़ा किया गया। हिन्दू-धर्म तो विश्व के विकास की वस्तु है, मानवीय उत्थान का इतिहास है। यह क्रांति तथा सामाजिक या राजनैतिक परिस्थिति विशेष में उत्पन्न नहीं हुआ, यह तो त्रिकालाबाधित ईश्वरीय सत्य सिद्धांतों पर ही अवलम्बित है।

कुरान, बाईबल में ऐसी अनेक बातें बतलाई गई हैं जो तर्क और बुद्धि से सिद्ध ही नहीं हो सकतीं, जैसे उन मतों में पुनर्जन्म को नहीं माना गया, जब एकबार मनुष्य मर जाता है तो वह प्रलय तक कब्र में पड़ा रहता है, एक दिन प्रलय होने पर सब मुर्दे एक बार ही उठ कर खुदा के सामने अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिये खड़े होंगे, इत्यादि ऐसी-ऐसी अनेक ऊटपटांग बातें हैं। इन सब बातों का वर्णन इस पुस्तक में नहीं किया गया है।

❀ ॐ तत्सत ❀

उपदेश-वाक्य

कृण्वन्तो विश्वमार्यम् (ऋग्वेद ६।६३।५)

हे मनुष्यों ! सब संसार को आर्य बनाते हुए चलो ।

'संगच्छध्वं संवदध्वं' (ऋग्वेद १०।१६।२)

हे आर्यों ! तुम परस्पर मिलकर चलो और अपनी उन्नति के लिये सत्य तथा प्रिय भाषण करो ।

'धर्मो रक्षति रक्षितः'

रक्षा किया हुआ धर्म ही संसार की रक्षा करता है ।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।'

यह आत्मा (आत्मिक उन्नति) दुर्बल मनुष्यों को प्राप्त नहीं हो सकती ।

'अवहितं देवा उन्नयथा पुनः' (ऋग्वेद १०।१३७।१)

हे विद्वानों ! तुम धर्म से पतित हुए को उठाओ ।

मातृ-भूमि

[illegible] च स्वर्गादपि गरीयसी ।

[illegible] का न में रोचते लक्ष्मण ॥

[illegible] हे लक्ष्मण ! माता तथा मातृ-भूमि [illegible] अधिक सुखकर तथा वन्दनीय हैं । यह लंका सोने की होने पर भी मुझे मेरी मातृ-भूमि (भारत) के आगे तृणवत् तुच्छ प्रतीत होती है ।

"वीरभोग्या वसुन्धरा"

इस वसुन्धरा का उपभोग शूरवीर ही कर सकता है ।

हमारा प्रकाशन

हिन्दी :—

१ हिन्दू गौरव गान (अजिल्द)	
२ हिन्दू गौरव गान (सजिल्द)	१
३ हिन्दू धर्म प्रवेशिका	१)
४ सिखों के दश गुरु	।।।)
५ गीता-सार-संग्रह	।=)
६ गीतासार	।।=)
७ तुलसी-रामायण-संग्रह	।=)
८ परमात्मा से विनय विवाद	=)
९ आर्य संस्कृति गौरव गान	।)
१० ध्रुवोपाख्यान	—)
११ लक्ष्मीनारायण मन्दिर (हिन्दी) छोटी	≡)
१२ ,, ,, (हिन्दी) बड़ी	।=)
१३ ,, ,, (अंग्रेजी) छोटी	≡)
१४ ,, ,, (अंग्रेजी) बड़ी	।=)
१५ परमात्मा क्या है	=)
१६ भगवान् बुद्धावतार	।)

English—

1—Hindu Culture in Greater India	Rs. 2-0
2—What is Supreme Being	0—2

अन्य पुस्तकें —

हिन्दू-धर्म की विशेषताएं

प्राप्ति-स्थान—

अखिल भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ,

पो० बिरला लाइन्स, सब्जी मंडी, दिल्ली।